रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी-फरवरी-मार्च

★ १९९४ ★

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी त्यागात्मानन्द

वर्ष ३२
अंक १

वार्षिक १५/- एक प्रति ५/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) २००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर - ४९२ ००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २५२६९

अनुक्रमणिका

कम्पोजिंग : लेजरपोर्ट कम्प्यूटर्स, शंकर नगर, रायपुर

मुद्रण : सरस्वती फाइन आर्ट एण्ड लीथो वर्क्स, रायपुर

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ३२) जनवरी-फरवरी-मार्च ☆ १९९४ ☆ (अंक १

दुख से ग्रस्त है सुख

आक्रान्तं मरणेन जन्म जरसा चात्युज्ज्वलं यौवनं
संतोषो धनलिप्सया शमसुखं पौढ़ाङ्गनाविभ्रमैः ।
लोकैर्मत्सरिभिर्गुणा वनभुवो व्यालैर्नृपा दुर्जनै -
रस्थैर्येण विभूतयोऽप्युपहता ग्रस्तं न किं केन वा ॥

जीवन को मृत्यु ने, अति शोभामय यौवन को बुढ़ापे ने, सन्तोष को धनलिप्सा ने, संयम के सुख को प्रगल्भ नारियों के हावभाव ने, (विद्या-विनय आदि) गुणों को ईर्ष्या ने, वनस्थली को सर्पों ने, राजा को दुर्जन सभासदों ने और ऐश्वर्य को अस्थिरता ने ग्रस्त कर रखा है । इस जगत् में ऐसी कौन सी वस्तु है, जो किसी अन्य के द्वारा ग्रस्त न हो ?

भर्तृहरिकृत **'वैराग्यशतकम्'** - ३२

अग्नि-मंत्र

(स्वामी अखण्डानन्द को लिखित)

गाजीपुर
फरवरी, १८९०

प्राणाधिकेषु

तुम्हारा पत्र पाकर अतीव हर्ष हुआ। तिब्बत के सम्बन्ध में जो कुछ तुमने लिखा है, वह बहुत आशाजनक है। मैं एक बार वहाँ जाने का प्रयास करूँगा। संस्कृत में तिब्बत को उत्तरकुरुवर्ष कहते हैं, वह म्लेच्छभूमि नहीं हैं। पृथ्वी भर में सबसे ऊँची भूमि होने के कारण वह बहुत शीतप्रधान है। परन्तु शीत सहकर धीरे धीरे वहाँ रहने का अभ्यास हो सकता है। तिब्बती लोगों के आचार-व्यवहार के बारे में तुमने कुछ नहीं लिखा। यदि वे इतने आतिथ्यशील हैं, तो उन्होंने तुम्हें आगे क्यों नहीं बढ़ने दिया ? एक लम्बे पत्र में सब कुछ विस्तार से लिखो। यह जानकर कि तुम न आ सकोगे, खेद हुआ। मुझे तुम्हें देखने की बड़ी इच्छा थी। ऐसा लगता है कि मैं तुम्हें सबसे अधिक प्यार करता हूँ। जो भी हो, इस माया से भी छुटकारा पाने की चेष्टा करूँगा।

तिब्बतियों के जिन तांत्रिक अनुष्ठानों के सम्बन्ध में तुमने लिखा है, उसका श्रीगणेश बौद्ध धर्म के पतन-काल में भारतवर्ष में हुआ था। मेरा विश्वास है कि जो तंत्र हम लोगों में प्रचलित हैं, उनका सूत्रपात बौद्धों के द्वारा ही हुआ था। वे तांत्रिक अनुष्ठान हमारे वामाचारवाद (वाममार्ग) से भी अधिक भयंकर थे। उनमें व्यभिचार के लिए कोई रोक-टोक न थी। जब बौद्ध लोग अत्यन्त व्यभिचारपरायण और अनैतिक बनकर निर्वीर्य हो गये थे, तभी कुमारिल भट्ट ने उन्हें यहाँ से भगा दिया। जिस

प्रकार कुछ संन्यासियों का श्री शंकराचार्य के संबंध में और बाउल लोगों का श्री चैतन्य के सम्बन्ध में कहना है कि वे गुप्तभोगी और सुरापायी थे तथा नाना प्रकार के जघन्य आचरण करते थे, उसी प्रकार आधुनिक तांत्रिक बौद्ध, बुद्धदेव के सम्बन्ध में कहते हैं कि वे घोर वाममार्गी थे। ये लोग प्रज्ञापारमितोक्त तत्त्वगाथा जैसे सुन्दर उपदेशों के विकृत अर्थ लगाते हैं। इसके परिणामस्वरूप आजकल बौद्धों के दो सम्प्रदाय हो गये हैं। ब्रह्मदेशवाले और सिंहलदेशवासी बौद्ध प्रायः तंत्रों को नहीं मानते। साथ ही इन्होंने हेन्दू देवी-देवताओं को दूर कर दिया है तथा जिन 'अमिताभ बुद्धम्' को उत्तराञ्चल के बौद्ध परम पूजनीय समझते हैं, उन्हें भी उन्होंने हटा दिया है। सारांश यह कि 'अमिताभ बुद्धम्' और दूसरे देवता, जिनकी उत्तराञ्चल में पूजा-अर्चा होती है उनका उल्लेख तक प्रज्ञापारमिता जैसी पुस्तकों में नहीं है, किन्तु उन्हीं में बहुत से देवी-देवताओं के पूजन का विधान है। दक्षिणवालों ने तो जान-बूझकर शास्त्रों का उल्लंघन कर डाला है और देवी-देवताओं को त्याग दिया है। बौद्ध धर्म का वह भाव, जिसका अर्थ है, everything for others (सर्वस्व परोपकार के लिए) और जिसका तुम तिब्बत भर में प्रचार पाते हो, बौद्ध धर्म के उस भाव के प्रति आजकल यूरोप में बड़ा आकर्षण है। जो हो, इस भाव के सम्बन्ध में तुझे बहुत कुछ कहना है, पर इस पत्र में कहाँ तक लिखूँ ? जो धर्म उपनिषदों में केवल एक जातिविशेष के लिए आबद्ध था, उसका द्वार गौतम बुद्ध ने सबके लिए खोल दिया और सरल लोकभाषा में उसे सबके लिए सुलभ कर दिया। उनका श्रेष्ठत्व उनके निर्वाण के सिद्धान्त में नहीं, अपितु उनकी अतुलनीय सहानुभूति में है। समाधि प्रभृति बौद्ध धर्म के वे श्रेष्ठ अंग, जिनके कारण उक्त धर्म को महत्ता प्राप्त है, प्रायः सबके सब वेदों में पाये जाते हैं; वहाँ यदि अभाव है, तो बुद्धदेव की बुद्धि

तथा उनके हृदय का, जिनकी बराबरी जगत् के इतिहास में आज तक कोई नहीं कर सका।

वेदों में जो कर्मवाद है, वही यहूदी तथा अन्य धर्मों में भी है अर्थात् यज्ञ तथा अन्य बाह्य आचरणों द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि। इसका विरोध सबसे पहले भगवान बुद्ध ने ही किया। परन्तु उसके मूल भाव प्राचीन जैसे ही रहे। उदाहरणार्थ उनका अन्तःकर्मवाद तथा वेदों को छोड़ सूत्रों (सुत्त) पर विश्वास करने की आज्ञा देखो। जाति-भेद वही पुराना था (बुद्ध के समय में जातियों का पूर्ण लोप नहीं हो पाया था), किन्तु उसका निर्णय व्यक्ति के गुणों के आधार पर होता था और जो उनके धर्म पर विश्वास नहीं करते थे, वे पाखण्डी कहलाते थे। 'पाखण्ड' बौद्धों का एक पुराना शब्द है, परन्तु वे बड़े भले और सहिष्णु थे ; उन्होंने कभी अविश्वासियों पर तलवार नहीं उठायी। तुमने तर्कों की आँधी में वेदों को उड़ा दिया, किन्तु तुम्हारे धर्म का प्रमाण क्या है ? बस, विश्वास करो ! ! – यही तरीका तो सब धर्मों का है। यह उस समय की एक बड़ी आवश्यकता थी और इसी कारण उनका अवतार हुआ था। उनका मायावाद कपिल के जैसा है। परन्तु श्री शंकराचार्य का सिद्धान्त कितना महान् और कितना युक्तिपूर्ण था ! बुद्ध और कपिल सदा से यही कहते आये हैं, "इस जगत् में केवल दुःख ही दुःख है – इससे दूर रहो, दूर रहो।" सुख क्या यहाँ बिल्कुल नहीं है ? यह कथन ब्राह्मों के जैसा है, जिनके मत से इस जगत् में सब सुख ही सुख है। दुख तो है, पर इसका इलाज क्या ? शायद कोई यह कहे कि दुःख भोगने का निरन्तर अभ्यास हो जाने पर वह दुःख ही सुख जैसा प्रतीत होने लगेगा। श्री शंकराचार्य का मत इससे भिन्न है। उनका कहना है कि यह संसार है भी और नहीं भी (सन्नापि असन्नापि)। अनेक रूप होने पर भी 'एक' है (भिन्नापि अभिन्नापि)

– मैं इसका रहस्योद्घाटन करूँगा । मैं इसका पता लगाऊँगा कि वहाँ दुःख है कि कुछ और । मैं उसे हौआ समझकर क्यों भागूँ ? मैं इसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करूँगा । इसके जानने में जो अनन्त दुःख है, उसका मैं पूर्णतया आलिंगन कर रहा हूँ । क्या मैं पशु हूँ, जिसे तुम इन्द्रियजनित सुख-दुख, जरा-मरण आदि से भयभीत करना चाहते हो ? मैं इसे जानूँगा, इसके जानने के लिए जान दूँगा । इस जगत में जानने योग्य कुछ भी नहीं है । अतएव यदि इस मायिक जगत के परे जो है – जिसे भगवान् बुद्ध 'प्रज्ञापारम्' अथवा अतीतात्मक कहते हैं – उसका अस्तित्व हो, तो मुझे वही चाहिए । मुझे इस बात की परवाह नहीं कि उसकी प्राप्ति होने पर मुझे दुःख होगा या सुख । क्या ही उच्च भावना है यह ! कितनी महान् ! उपनिषदों के ऊपर बौद्ध धर्म पनपा है और उसके भी ऊपर है श्री शंकराचार्य का दर्शन । यदि श्री शंकराचार्य में कोई कमी है, तो यह है कि उनमें बुद्ध के विशाल हृदय का अणु मात्र भी नहीं है । उनकी केवल शुष्क बुद्धि थी । तंत्रों के भय से, लोकभय से एक फोड़े को अच्छा करने के प्रयत्न में पूरा हाथ ही काट डाला । कोई चाहे तो इन बातों पर एक बड़ा ग्रन्थ लिख सकता है, पर मुझे न तो इतना ज्ञान है, न अवकाश ही ।

भगवान बुद्ध मेरे इष्टदेव हैं – मेरे ईश्वर हैं । उनका कोई ईश्वरवाद नहीं, वे स्वयं ईश्वर थे । इस पर मेरा पूर्ण विश्वास है । किन्तु परमात्मा की अनन्त महिमा को सीमाबद्ध करने की किसी में शक्ति नहीं । ईश्वर में भी यह शक्ति नहीं कि वह अपने को सीमित कर सके । 'सुत्तनिपात' से गण्डारसुत्त का जो अनुवाद तुमने किया है, वह अति उत्तम है । उस ग्रन्थ में एक अन्य 'धनियासुत्त' है, जिसमें इसी प्रकार के भाव हैं । धम्मपद में भी इन्हीं भावों से ओतप्रोत बहुत से वाक्यसमूह हैं । परन्तु वह तो पूर्ण ज्ञान और आत्मानुभूति से सन्तुष्ट होने पर जो परिपक्वावस्था

होती है, उसकी बात है – वह अवस्था, जो सभी परिस्थितियों में अक्षुण्ण रहती है और जिसमें इन्द्रियों पर प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है – ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः। जिसमें शरीर-बोध बिल्कुल नहीं है, वह मदमत्त हाथी की तरह इतस्ततः विचरण करता है। परन्तु मेरे समान क्षुद्र जीव के लिए यह आवश्यक है कि वह एक स्थान पर बैठकर साधना करे और तब तक अभ्यास में लगा रहे, जब तक उसे इष्ट-सिद्धि प्राप्त न हो। और फिर वह चाहे तो, उस प्रकार निर्द्वन्द्व विचरण कर सकता है। परन्तु वह अवस्था बहुत दूर – निस्सन्देह बहुत दूर है।

चिन्ताशून्यमदैन्यभैक्ष्यमशनं पानं सरिद्वारिषु
स्वातन्त्र्येण निरंकुशा स्थितिरभीर्निद्रा श्मशाने वने।
वस्त्रं क्षालनशोषणादिरहितं दिग्वास्तु शय्या मही
संचारो निगमान्तवीथिषु विदां क्रीड़ा परे ब्रह्मणि॥

विमानमालम्ब्य शरीरमेतद्-
भुनक्त्यशेषान् विषयानुपस्थितान्।
परेच्छया बालवदात्मवेत्ता
योऽव्यक्तलिंगोऽननुषक्तबाह्यः॥
दिगम्बरो वापि च साम्बरो वा
त्वगम्बरो वापि चिदम्बरस्थः।
उन्मत्तवद्वापि च बालवद्वा
पिशाचवद्वापि चरत्यवन्याम्॥

(विवेक चूड़ामणि)

– "ब्रह्मज्ञानी को भोजन बिना किसी परिश्रम के अपने आप मिल जाता है। जहाँ पाता है, वहीं पानी पी लेता है, स्वेच्छानुसार सर्वत्र विचरण करता है – निर्भय रहता है, कभी जंगल में और कभी श्मशान में सो जाता है और जिस मार्ग पर चलकर वेद भी

उसका पार नहीं पाते, वहाँ वह संचरण करता है। आकाश जैसा उसका शरीर है, वह बालकों की तरह दूसरों की इच्छानुसार परिचालित होता है; कभी नंगा, कभी वस्त्रालंकारमण्डित रहता है, और कभी कभी तो उसका आच्छादन ज्ञान मात्र रहता है। कभी अबोध बालक की भाँति, कभी उन्मत्त के समान और कभी पिशाचवत् व्यवहार करता है।"

मैं श्री गुरुदेव के पवित्र चरणों में प्रार्थना करता हूँ कि तुमको वह दशा प्राप्त हो और तुम गैंडे की भाँति निर्द्वन्द्व विचरण करो। इति।

विवेकानन्द

प्रकाशन विषयक विवरण

(फार्म ४ रूल ८ के अनुसार)

१.	प्रकाशक का स्थान	- रायपुर
२.	प्रकाशन की नियतकालिकता	- त्रैमासिक
३-४.	मुद्रक, एनं प्रकाशक	- स्वामी सत्यरूपानन्द
५.	सम्पादक	- स्वामी विदेहात्मानन्द
	राष्ट्रीयता	- भारतीय
	पता	- रामकृष्ण मिशन, रायपुर।
	स्यत्वाधिकारी	- रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ।

स्वामी भूतेशानन्द, स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी गहनानन्द, स्वामी आत्मास्थानन्द, स्वामी गीतानन्द, स्वामी प्रभानन्द, स्वामी हिरण्यमयानन्द, स्वामी सत्यघनान्द, स्वामी वन्दनानन्द, स्वामी तत्वबोधानन्द, स्वामी स्मरणानन्द, स्वामी मुमुक्षानन्द, स्वामी वागीशानन्द, स्वामी प्रमेयानन्द, स्वामी भजनानन्द, स्वामी गौतमानन्द, स्वामी शिवमयानन्द।

मैं, स्वामी सत्यरूपानन्द घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर)

स्वामी सत्यरूपानन्द

अनुशासन का महत्व

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्‌बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं । प्रस्तुत लेख 'आकाशवाणी' रायपुर से साभार गृहीत है । -स.)

मेरे एक मित्र हैं । उन्हें पेड़-पौधों से बड़ा प्यार है । बड़ा जतन करते हैं । ऐसी देखभाल करते हैं मानो वे उनके बच्चे हों । उन्होंने अशोक का एक पौधा लगाया । पौधा बढ़ने लगा । जो डाली उन्हें अनावश्यक प्रतीत होती, उसे वे काट देते । यदि तना उन्हें झुकता नजर आता, तो खपच्ची बाँधकर सीधा कर देते । ऊपर की शाखा-प्रशाखाओं को छाँटकर गोल आकार दिया करते। कुछ वर्ष बाद पौधा बढ़कर एक परिपक्व वृक्ष बन गया – कितना सुन्दर, कितना मोहक ! देखो तो आँखें वहीं गड़ जातीं । मैने भी देखादेखी अशोक का एक वृक्ष रोप दिया । वह बढ़ने लगा और कुछ वर्ष बाद वह भी एक बड़ा पेड़ बन गया । पर उसमें मित्र के पेड़-सी न तो सुन्दरता थी, न मोहकता । कारण का चिन्तन करने पर मित्र ने बताया कि तुम्हारे पेड़ का विकास बेतरतीब था, अनुशासनबद्ध नहीं था । मित्र ने मुझसे पूछा – क्या तुम उचित समय पर अनावश्यक डालियों को काटते थे ? तने को झुकने से बचने के लिए खपच्ची लगाते थे ? मेरा उत्तर नकारात्मक था । मतलब यह कि पेड़ का विकास भी यदि हमें मनोवांछित रूप से साधित करना है, तो उसे अनुशासन में रखना होगा ।

मेरी आँखें खुल गयीं । देश बौना हो गया है – देश के अंग – प्रत्यंग बेतरतीब बढ़े हैं । कारण समझ में आ गया । देश को आजादी के इन पैंतालीस वर्षों में अनुशासन की प्रक्रिया में नहीं बाँधा गया । सुन्दर सुन्दर पौधों को सही दिशा नहीं दी गयी, इसलिए वे बेतरतीब बढ़कर देश की खुशहाली के साधक होने के बदले बाधक बन गये । हमने आजादी के पहले का वह पाठ भुला दिया कि जब एक सामान्य पौधे को इच्छानुकूल रूप देने के लिए इतनी साधना की आवश्यकता होती है, तब मानवरूपी पौधे को उचित आकार देने के लिए कितनी तपस्या न लगती होगी ! और उसका फल प्रत्यक्ष है । हम बड़ी से बड़ी उपलब्धि चाहते हैं , पर अनुशासन हमें पसन्द नहीं । तो यह उपलब्धि कैसे हासिल हो सकती है ? किसी भी क्षेत्र में बड़ा बनने के लिए अनुशासन का पाठ जरूरी है । मैं रविशंकर के सितारवादन की तो प्रशंसा करता हूँ, पर तब मैं यह भूल जाता हूँ कि इस योग्यता को प्राप्त करने के लिए रविशंकर को अनुशासन की कैसी कड़ी प्रक्रिया में से गुजरना पड़ा होगा ।

मेरे एक वेदपाठी मित्र हैं । आज वेदपाठ में उनका नाम देश भर में फैला है । उन्हें बचपन में वेदपाठ करते हुए देखता था । पिता छड़ी लेकर पुत्र को वेदपाठ सिखा रहे हैं । आरोह और अवरोह में किसी शब्द में पुत्र ने भूल की, तो तड़ से बेंत की मार उन्हें सहनी पड़ती थी । उस समय तो लगता था कि यह कठोरता है । पर उसी कठोरता का आज कितना मीठा फल उन्हें मिला है । तब पिता के प्रति उनका आक्रोश था । आज उन्हीं पिता के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते वे नहीं थकते । यह अनुशासन प्रारम्भ में कठोर तो लगता है, पर उसका फल महान बनानेवाला होता है ।

अनुशासन वह खराद है, जो हीरे का मल दूर कर उसे चमका देता है। हम चमकना तो चाहते हैं, पर खराद की प्रक्रिया से गुजरना हमें पसन्द नहीं। हम सब कुछ आसानी से, 'शार्टकट' के द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं। हम इसे बुद्धिमानी समझते हैं। पर है यह हमारी नादानी, और हमारी यह नादानी देश को किस प्रकार तबाह कर रही है यह दृश्य तो आँखों के सामने ही है। स्वामी विवेकानन्द ने आज से सौ साल पहले कहा था – "चालाकी से कोई बड़ा काम नहीं हो सकता !" उनका यह कथन आज के सन्दर्भ में कितना सत्य है ! हम चालाकी को ही बड़ा होने का रसायन समझ बैठे हैं। और विडम्बना यह है कि हम स्वयं तो अनुसासित नहीं रहना चाहते, पर दूसरों से अपेक्षा करते हैं कि वे अनुशासन में रहें। क्या यह कभी सम्भव है ?

अनुशासन प्रारम्भ में बलपूर्वक ही करना पड़ता है, पर बाद में वह सहज हो जाता है। भय का अनुशासन अस्थायी होता है, वह भय के दूर होते ही नष्ट हो जाता है। इसका अनुभव हमने आपात्काल में किया है। टिकाऊ अनुशासन वह है, जो भीतर से आता है। उसमें समाजबोध जुड़ा होता है। निपट स्वार्थी व्यक्ति अनुशासन का बन्धन स्वीकार नहीं करता।

हमें सामाजिक चेतना का पाठ नहीं पढ़ाया गया है। हमारा धर्म भी प्रचलित तौर पर स्वार्थ का ही पाठ पढ़ाता है – 'अपने' पुण्य और 'अपने' मोक्ष की बात पर ही जोर देता है। जब तक यह दृष्टिकोण नहीं बदला जाता और सामाजिक चेतना को सर्वोपरि स्थान नहीं दिया जाता, तब तक अनुशासन हमारे लिए अरण्य-रोदन ही सिद्ध होगा और हम एक राष्ट्र के रूप में बौने ही बने रहेंगे।

☆

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(चवालीसवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। - सं.)

तीन महीने हुए श्रीरामकृष्ण के गले में असाध्य व्याधि (Cancer) हो गई है। इतनी बड़ी बीमारी और लोग दल के दल दर्शन करने आ रहे हैं। अहैतुक कृपासिन्धु श्रीरामकृष्ण सबके साथ बातें करते हैं, जिससे उनका मंगल हो। डाक्टर लोगों, विशेष रूप से डॉ. सरकार ने उन्हें बोलने से मना किया है, लेकिन डॉक्टर स्वयं ही वहाँ छह-सात घंटा रुकते हैं और ठाकुर की अमृतवाणी का पानकर मुग्ध हो जाते हैं।

मास्टर महाशय श्रीरामकृष्ण की तबीयत का हाल बताने डॉक्टर के पास आये हुए हैं। यहाँ पर डॉक्टर और मास्टर महाशय के बीच श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में जो चर्चा हुई उसका विवरण है। डॉक्टर सरकार की श्रीरामकृष्ण के प्रति बड़ी श्रद्धा थी तथा उनके संस्पर्श में आनेवालों के प्रति भी श्रद्धा हुई है। मास्टर महाशय से वे स्नेहपूर्वक पूछते हैं, "दिन बहुत चढ़ गया है तुमने भोजन किया या नहीं ?" फिर इसी स्नेह के वशीभूत होकर कहते हैं, "क्या बताऊँ, एक दिन तुम लोगों को भोजन कराने की बात सोच रहा हूँ।"

कालीतत्व

वार्तालाप के दौरान माँ काली की बात उठने पर डॉक्टर कह रहे हैं – परमहंसदेव काली के उपासक हैं। हिन्दू सम्प्रदाय में जो लोग सतही तौर पर श्रीरामकृष्ण के चरित्र पर चर्चा करते हैं, उनमें से बहुतों की धारणा है कि श्रीरामकृष्ण काली के उपासक थे। यह बात गलत नहीं, किन्तु बहुत से लोग यह नहीं समझ पाते कि श्रीरामकृष्ण का 'काली' कहने से अभिप्राय क्या है ? वे किन अर्थों में इस शब्द का प्रयोग करते हैं ? हमें लगता है कि तैंतीस करोड़ देवी-देवताओं में माँ काली भी एक हैं। मास्टर महाशय कहते हैं, श्रीरामकृष्ण के 'काली' का अर्थ अलग है। वेद जिन्हें 'परमब्रह्म' कहते हैं, उन्हें ही वे काली कहते हैं। वे ही सगुण-निर्गुण साकार-निराकार सब हैं। जब वे सृष्टि-स्थिति-लय करते हैं, तब श्रीरामकृष्ण उन्हें शक्ति कहते हैं और जब वे कुछ नहीं करते, निर्गुण रहते हैं, तब उन्हें ब्रह्म कहते हैं। जो निर्गुण-निष्क्रिय हैं, वे ही सगुण-सक्रिय हैं। काली शब्द से तात्पर्य आद्याशक्ति से है ; जिनके द्वारा सृष्टि-स्थिति-लय हो रहा है, वे ही काली हैं। शक्ति की समस्त अभिव्यक्तियों के पीछे जो आदिशक्ति है, उन्हें ही 'काली' या 'ईश्वर' कहते हैं। ईश्वर शब्द का अर्थ है, 'ईशन' अर्थात नियंत्रण करनेवाला। उन्हीं जगन्नियन्ता ईश्वर को श्रीरामकृष्ण काली कहते हैं। ये आद्याशक्ति ही अवतार होकर आती हैं। धर्म की रक्षा के लिए देह धारण कर अवतीर्ण होती हैं। काली का अर्थ है आद्याशक्ति, जहाँ से सब अवतार आते हैं। शक्ति की वन्दना में कहा गया है – "तुम्हीं सृष्टि-स्थिति-लय कर रही हो और तुम्हीं से सब अवतार तथा ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर आदि देवी-देवता उत्पन्न होते हैं।" दुर्गासप्तशती में भी कहा गया है कि वे ही सभी देवी-देवता हुई हैं। अतएव काली से तात्पर्य

चार भुजाओं में असि, मुण्ड और वराभय मुद्रा धारण किए हुए देवी से नहीं है । उनके विविध रूप हैं । जिनकी शक्ति से विश्व-ब्रह्माण्ड प्रकाशित होता है और जिनमें लय होता है, प्राचीन ब्रह्मज्ञानीगण जिन्हें 'ब्रह्म' कह गये हैं, योगीजन जिंन्हें 'आत्मा' कहते हैं और भक्त जिन्हें भगवान कहते हैं, श्रीरामकृष्ण उन्हें ही 'काली' कहते हैं । ये बातें मास्टर महाशय कह रहे हैं ।

सामान्य लोग सोचते हैं कि काली एक भयंकरी देवी हैं । वे संहार करती हैं, अतः कोई कोई उन्हें तमोगुणी कहते हैं । एक ओर तो वे संहार करती हैं और दूसरी ओर सृष्टि करती हैं । जिस मूर्ति में संहार है उसी में सृष्टि भी है । अतः सामान्य लोगों के लिए काली को समझना कठिन है । हिन्दू शास्त्रों में प्रत्येक देवी-देवता के सम्बन्ध में इसी तरह की धारणा है । उपास्य के रूप में वे परमेश्वर समस्त देवताओं के देवता होते हैं । हम लोग प्रायः इस तत्व को न समझकर विभिन्न देवताओं की पृथक धारणा करके आपस में विवाद करते हैं । वस्तुतः एक ही परमेश्वर विभिन्न रूप धारण किए हुए जगत की सृष्टि-स्थिति-लय कर रहे हैं और उन्हीं को काली कहा जाता है । दुर्गासप्तशती में कहा गया है –

त्वं वैष्णवीशक्तिरनन्तवीर्या
विश्वस्य बीजं परमाऽसि माया ॥ ११/५

– तुम्हीं वैष्णवीशक्ति हो, अर्थात सर्वव्यापीशक्ति जो विष्णु से अभिन्न है । ये विष्णु – ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर में से एक नहीं हैं, ये जगत् के आदि बीज हैं । इसी प्रकार उनका वर्णन सर्वव्यापी परमेश्वरी के रूप में किया जाता है ।

काली का प्रसंग उठने पर मास्टर महाशय ने डॉक्टर को श्रीरामकृष्ण का भाव समझा दिया । डॉक्टर ब्राह्मभाव में

अनुप्राणित होने के कारण इन सब देवदेवी का तात्पर्य समझ नहीं पाते थे।

पिछले दिन भक्तों को भावसमाधि हुई थी; डॉ. सरकार वहाँ पर उपस्थित थे। इसीलिए उस प्रसंग में कहते हैं, "भावावेश तो मैंने देखा। अधिक भावावेश होना क्या अच्छा है ?" उत्तर में मास्टर महाशय कहते हैं, "श्रीरामकृष्ण कहते हैं, ईश्वर का चिन्तन करने पर जो भावावेश होता है, उसके अधिक होने पर कोई हानि नहीं होती।" ब्राह्मसमाज के अनेक लोग श्रीरामकृष्ण के भाव से प्रभावित हो रहे थे, अतः उनकी सगुण-निराकार भाव की दृढ़ता शिथिल होती जा रही थी। समाज के आचार्य शिवनाथ शास्त्री ने कहा था – परमहंसदेव आदमी अच्छे हैं, किन्तु अधिक ईश्वर-चिन्तन करने के कारण उनका मस्तिष्क खराब हो गया है। उनका तात्पर्य यह था कि सब लोग श्रीरामकृष्ण की बातों को अधिक ग्रहण न करें, नहीं तो ब्राह्मसमाज की क्षति होगी। श्रीरामकृष्ण इस बात को सुनकर शिवनाथ से बोले, "तुम लोग जड़ का चिन्तन करके मस्तिष्क ठीक रखे हो और मैं चैतन्य का चिन्तन करके अचैतन्य हो गया ?" शिवनाथ किसी तरह टाल गये।

सामान्य लोग इस हिसाब से ईश्वर-चिन्तन करना चाहते हैं जिससे विषय-चिन्तन को कोई धक्का न लगे। विषय-कर्म में हानि होने पर उसे अति करना कहा जाता है। श्रीरामकृष्ण ने यह विचार करने को कहा कि जीवन का लक्ष्य क्या है ? लक्ष्य यदि ईश्वरप्राप्ति हो तो फिर ईश्वर-चिन्तन में अति कहाँ हो सकती है ? सांसारिक विषय मनुष्य का लक्ष्य नहीं है। फिर भी मनुष्य जब तक संसार से दस लोगों के साथ रहता है, तब तक उसे अपने भाव को दबाकर रखना पड़ता है। किन्तु धर्मजीवन में

यह संकोच कल्याणकारी नहीं, बल्कि क्षतिकारक है। ईश्वर-साधना में अति नाम की कोई वस्तु नहीं है।

श्री म - महेन्द्रलाल - वार्तालाप

श्रीरामकृष्ण को देखने जाने के लिए डॉ. सरकार मास्टर महाशय के साथ गाड़ी में बैठे। मार्ग में विद्यासागर की बात उठी। विद्यासागर ने श्रीरामकृष्ण के प्रति कितनी विनम्रता दिखाई थी – मास्टर महाशय इसका उल्लेख करते हुए बोले, "फिर भी उनसे बातचीत करके मैंने देखा है, वैष्णवगण जिसे भाव कहते हैं, उस तरह की बातें उन्हें पसन्द नहीं - जैसा आपका मत है। डॉक्टर समर्थन पाकर कहते हैं, "हाथ जोड़ना, पैरों पर सिर रखना, यह सब मुझे पसंद नहीं।"

जो लोग ईश्वर को नहीं मानते, वे भी परस्पर मिलने पर एक दूसरे को हाथ जोड़कर नमस्कार करते है। यह सौजन्यता की एक प्रचलित प्रथा है। ठीक उसी तरह भक्तिभाव रहने पर उसकी अभिव्यक्ति की पद्धति समाज और देश भेद से विभिन्न प्रकार की होती है। कोई हाथ जोड़कर, कोई सिर नवाकर, अथवा कोई दण्डवत होकर प्रणाम करता है। ये सब भाव की अभिव्यक्ति मात्र है; न अच्छे हैं, न बुरे। फिर भी आन्तरिकता न होने पर यह दोष है।

मास्टर महाशय सुयोग पाते ही महेन्द्रलाल सरकार के सामने श्रीरामकृष्ण के भाव को व्यक्त करते थे। यहाँ पर वे श्रीरामकृष्ण के रंग के गमले का दृष्टान्त देकर समझाना चाहते हैं कि श्रीरामकृष्ण के भीतर सब रंग हैं, सब भाव हैं। इसीलिए सभी सम्प्रदाय के लोग उनके पास आकर शान्ति और आनन्द पाते हैं। मास्टर महाशय और भी कहते हैं, "उनका खास भाव क्या है, वे कितने गहरे हैं, यह भला कौन समझेगा ?" अर्थात उनके भाव

को समझना बहुत कठिन है । सूत का व्यवसाय न करने पर सूत का भेद समझ में नहीं आता । उनका भाव यत्किंचित् अपने अनुभव में आये बिना, उसका अन्तर्निहित महत्व समझा नहीं जा सकता ।

इसके बाद डॉक्टर पूछते हैं कि श्रीरामकृष्ण की सेवा की व्यवस्था किस प्रकार हो रही है । मास्टर महाशय ने बताया कि वयस्कों में से कोई एक व्यवस्था करते हैं और युवकगण उसके अनुसार सेवा करते हैं । डॉक्टर को श्रीरामकृष्ण के भक्तों के बारे में उत्सुकता है । सेवकों की निष्ठा और गुरुभक्ति देखकर वे मुग्ध हैं । लेकिन वे स्वयं अब भी उस भाव को अपना नहीं सके हैं । बाद में भी कभी अपना सके थे या नहीं, पता नहीं । तथापि श्रीरामकृष्ण के प्रति वे श्रद्धासम्पन्न थे; इसके परिणामस्वरूप उनमें उदारता आ गई थी, जिसका कि उल्लेख वचनामृत में मिलता है । वस्तुतः ठाकुर के प्रभाव में आकर, उसे दूर रखने की क्षमता सम्भवतः किसी में न थी । सभी लोग कुछ न कुछ प्रभावित होते ही थे, पर आधार अच्छा होने पर उनका भाव बड़ी तेजी से और बड़ी गहराई तक संचरित होता था । जहाँ यह पात्रता नहीं होती, वहाँ वह सतही तौर पर कार्य करता । किन्तु जो वहाँ आते, उनमें से कोई भी उनके प्रभाव से मुक्त नहीं रह पाते थे ।

डॉ. सरकार मास्टर महाशय के साथ श्यामपुकुर के मकान तक आ पहुँचे । डॉक्टर आते तो थे रोगी देखने, किन्तु रोग के सम्बन्ध में कुछ थोड़ी-सी बातें कर, बाद में अन्य चर्चाएँ होती थीं । आज भी वैसा ही हो रहा है । श्रीरामकृष्ण विवेक-वैराग्यहीन पण्डित की असारता बता रहे हैं । 'वचनामृत' में इस प्रसंग को उन्होंने बार बार उठाया है । केवल पाण्डित्य के द्वारा वस्तुलाभ नहीं, केवल बुद्धि की कसरत भर होती है । साधना न करके

केवल जानकारी इकट्ठा करने से काम नहीं बनता । धर्म केवल चर्चा का विषय नहीं, अनुभव की वस्तु है । एक बात किसी व्यक्ति के कहने पर मन पर उसका कोई असर नहीं पड़ता, परन्तु किसी दूसरे के मुख से वही बात हृदय को छू लेती है । इसका कारण यह है कि एक व्यक्ति में साधन-सम्पदा नहीं है और दूसरे में वह है ।

श्रीरामकृष्ण और बंकिमचन्द्र

विद्वान पण्डित बंकिमचन्द्र का प्रसंग उठाकर श्रीरामकृष्ण ने डॉक्टर को बताया कि उन्होंने उनसे पूछा था कि मनुष्य का कर्तव्य क्या है । इसके उत्तर में बंकिमचन्द्र ने लगता है हँसी में कह दिया था, 'आहार, निद्रा, मैथुन' ; किन्तु उन्हें पता नहीं था कि यह बात वे किसके सामने कह रहे हैं । पण्डित एवं समाज के विशिष्ट व्यक्ति है, इसलिए उनसे सम्मानपूर्वक बोलना होगा ऐसा सोचनेवाले व्यक्ति श्रीरामकृष्ण न थे । बंकिमचन्द्र की ये बातें सुनकर उन्हें घृणा हुई । उन्होंने उनकी तीव्र भर्त्सना की । लेकिन बंकिमचन्द्र नाराज नहीं हुए, समझ गये कि श्रीरामकृष्ण से इस प्रकार हँसी करना ठीक नहीं । इसीलिए बाद में फिर कहते हैं, "महाशय एक बार आप हमारे यहाँ आइएगा ।" श्रीरामकृष्ण बोले – भगवान की जैसी इच्छा ।

पाण्डित्य – वक्ता या श्रोता किसी का भी उद्धार नहीं करता । पाण्डित्य अहंकार को बढ़ाता है, परिणामस्वरूप बन्धन और भी दृढ़ होता है । हम स्मृति, श्रुति, न्याय, मीमांसा सब जानते हैं, किन्तु भवसमुद्र पार होने के लिए पाथेय का संचय नहीं करते । तैरना नहीं जानते । श्रीरामकृष्ण कहते है, "उनकी कृपा होने पर क्या फिर ज्ञान का अभाव रह जाता है ? मैं भी जो बातें कह जाता हूँ, जब वे घटने पर आ जाती हैं, तब माँ अपने अक्षय ज्ञान-भण्डार से राशि पूरी कर देती हैं ।"

अहंकार और स्वातंत्र्यबोध

यह श्रीरामकृष्ण का एक वैशिष्ट्य है कि वे अपने आपको एक यंत्र मानते हैं और दूसरी ओर पण्डित अपने आपको वक्ता समझते हैं। श्रीरामकृष्ण जानते हैं कि यह वाणी माँ की है। उनकी कृपा से मूर्ख विद्वान बन जाता है। इस प्रसंग में बगलामुखीस्तोत्र का एक सुन्दर श्लोक उल्लेखनीय है –

वादी मूकति रङ्कति क्षितिपतिर्वैश्वानरः शीतति।
क्रोधी शान्तति दुर्जनः सुजनति क्षिप्रानुगः खञ्जति॥
गर्वी खर्वति सर्वविच्च जड़ति त्वन्मन्त्रंणा यन्त्रितः।
श्रीनित्ये बगलामुखि प्रतिदिनं कल्याणि तुभ्यं नमः॥

– कहते हैं कि उनकी ही इच्छा से वाचाल मूक हो जाता है, राजा भिखारी हो जाता है, ताप देनेवाला अग्नि शीतल हो जाता है, महाक्रोधी शान्त हो जाता है, दुर्जन सुजन हो जाता है, वेगवान व्यक्ति पंगु हो जाता है, सर्वज्ञ जड़ हो जाता है। वे जिसे जिस रूप से नियंत्रित करती हैं, वह वैसा ही हो जाता है। गीता कहती है –

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया॥ १८/६१

– भगवान सबके हृदय में विराज रहे हैं एवं यन्त्रारूढ़ की तरह, यन्त्र की पुतली की तरह माया के प्रभाव से समस्त प्राणियों को घुमा रहे हैं। सभी माया के द्वारा नियन्त्रित होकर चल रहे हैं, पर सोचते हैं, मैं करता हूँ।

यह प्रश्न मनुष्य को बड़ा उद्विग्न करता है कि वह स्वतन्त्र है या नहीं। श्रीरामकृष्ण कहते हैं – उनकी इच्छा के बिना पेड़ का पत्ता भी नहीं हिलता। उपनिषद् में भी कहा गया है, 'एतस्य वा

अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः' (बृ.उप./३/८/९) – हे गार्गि, इस अक्षर पुरुष के शासनाधीन होकर सूर्य और चन्द्र, द्यूलोक और भूलोक विधृत होकर अपने स्थान में अवस्थित हैं। इसी तरह विश्व के समस्त प्राणी जड़-चेतन उनके नियन्त्रण में हैं।

प्रश्न उठता है कि यदि हम उन्हीं के द्वारा नियन्त्रित होते हैं, अपने आप में स्वतन्त्र नहीं हैं, तो फिर अच्छे-बुरे कर्मों का फल क्या हमें भोगना पड़ेगा ? एक तलवार के द्वारा अगर कोई किसी की हत्या करे, तो क्या तलवार की फाँसी होगी ? जो तलवार चलायेगा उसी को अच्छा-बुरा फल मिलेगा। यन्त्र का तो कोई दोष-गुण नहीं होता। यंत्र को जो चला रहे हैं, वे ही यन्त्री रूप में सबके भीतर रहकर उसके साथ अभिन्न रूप में दिखाई देते हैं एवं जो शुभाशुभ फल भोग कर रहे हैं, वे भी उनको छोड़कर अन्य कोई नहीं हैं। जैसा कि श्रीरामकृष्ण ने टिड्डे का दृष्टान्त दिया है। वे ही राम सर्वत्र विद्यमान हैं। श्रीरामकृष्ण की कहानी में साधु ने जैसा कहा था – जिसने मुझे मारा था, वही मुझे दूध पिला रहा है।

अच्छा-बुरा सब वे ही कर रहे हैं, हम लोग भोगते हैं अपनी अहंकार-विमूढ़ता के कारण। यह जो 'मैं-बुद्धि' है - मैंने कर्म किया है, मैं फल भोग कर रहा हूँ - यह भ्रान्त ज्ञान है; वे ही सब करते है, भोग भी वे ही करते हैं, यही वास्तविक ज्ञान है। ब्राह्मण द्वारा गोहत्या वाली कहानी की तरह हम अच्छा करने पर कहते हैं, मैंने किया है और कुछ खराब काम करने पर अपने दोष को उन पर मढ़ने के लिए कहते हैं – उन्होंने कराया है। कष्ट भोग करते समय कहते हैं, वे कष्ट क्यों दे रहे हैं; सुख के

समय तो नहीं कहते कि वे सुख क्यों दे रहे हैं। उस समय हम भूल जाते हैं। यही हमारे मन का दोमुखी भाव है, जिसे कहते हैं भाव के घर में चोरी। हमारे भीतर भी वे ही हैं, बाहर भी वे ही हैं – 'जो कुछ है सो तू ही है'। प्रत्येक घट से वे ही भोग कर रहे हैं।

श्रीरामकृष्ण ने अपनी साधना-अवस्था के अनुभव का थोड़ा सा उल्लेख किया। अचानक ऐसा करने का तात्पर्य लगता है कि वे डॉ. सरकार पर कृपा करके मानो अपनी पूर्वावस्था की बात बता रहे हैं ताकि उनके ज्ञानभण्डार में इस विषय के कुछ तथ्य सञ्चित हों। डॉक्टर का वैज्ञानिक मन प्रत्यक्ष और अनुमान को छोड़कर और कुछ मानता नहीं। यह सब आध्यात्मिक अनुभूति का विषय उनके लिए रहस्यावृत है। इसीलिए श्रीरामकृष्ण इन सबका उल्लेख करके डॉक्टर के अन्तःकरण में ऐसे नये तथ्य प्रवेश करा रहे हैं, जिनकी खबर उन्हें नहीं थी।

ग्राहकों को सूचना

इस अंक के आवरण पर छपे पते के साथ आपकी नई ग्राहक-संख्या भी दी जा रही है। कृपया उसे नोट कर लें और भविष्य में पत्र-व्यवहार करते समय उसका उल्लेख अवश्य करें। आपके पते में कोई भूल या अधूरापन दिखे तो पिन कोड सहित अपने पूरे पते से हमें अवगत करावें। - ***व्यवस्थापक***

मानस-रोग (२०/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर कुल मिलाकर ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके बीसवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्रीराजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। – स.)

रामचरितमानस के अन्त में गरुड़जी द्वारा कागभुसुण्डिजी से सात प्रश्न किए गये। उनमें से सातवें और अन्तिम प्रश्न के उत्तर में कागभुसुण्डिजी ने मानस रोगों का विश्लेषण किया तथा उनकी चिकित्सा-पद्धति बताई। उन्होंने यह विश्लेषण आयुर्वेद की पद्धति से किया। आयुर्वेद की मान्यता यह है कि व्यक्ति के शरीर में रोग चाहे जितने उत्पन्न हों, पर उन सबके मूल में केवल तीन ही वस्तुएँ हैं और उन तीन वस्तुओं के मूल में भी प्रेरक वस्तु एक ही है। उसी एक से तीन और उस तीन से न जाने कितने रोग सहस्रों रूपों में सक्रिय हो जाते हैं। इसमें जो एक क्रम है, मानस-रोगों में भी गोस्वामीजी ने उसी क्रम को स्वीकार किया है। उन्होंने कहा कि मन के जितने भी विकार हैं, उनके मूल में मोह की वृत्ति ही विद्यमान है। यही मोह की प्रवृत्ति क्रमशः तीन रूपों में प्रगट होती हैं, और इन्हीं से अगणित मानसिक विकार उत्पन्न होकर मानव जीवन पर शासन करने लग जाते हैं। गोस्वामीजी ने लिखा –

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।
तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥ ७/१२०/२९

– मोह ही समस्त व्याधियों का मूल है और उससे ही अगणित रोग उत्पन्न होते हैं।

यह 'मोह' क्या है ? मोह की व्याख्या की गई। 'मोहश्चित्त विपर्ययः' – चित्त में विपरीतता की स्थिति का उत्पन्न हो जाना

– यही मोह की वृत्ति का लक्षण है । यद्यपि मन और शरीर का सन्दर्भ अलग-अलग है, पर यह मोह की वृत्ति दोनों सन्दर्भों में समान रूप से प्रेरक है । शरीर के सन्दर्भ में स्वस्थ रहने का उपाय हम जानते हैं । स्वस्थता के लिए नियम, संयम, पथ्य आदि सब हम जानते हैं, पर बड़ी विचित्र विडम्बना है कि व्यक्ति पथ्य और कुपथ्य का भेद जानकर भी कुपथ्य को अस्वीकार नहीं कर पाता । कुपथ्य को जानबूझकर ग्रहण कर लेता है । यही मोह की स्थिति है । शरीर के सन्दर्भ में भी यही सत्य है कि स्वस्थता के नियमों को जनते हुए भी उनकी अवहेलना करके हम शरीर से अस्वस्थ हो जाते हैं । उसी तरह मन के सन्दर्भ में भी यही सत्य है कि जिन सच्चाइयों को हम जानते हैं, उनकी भी जानबूझकर अवहेलना करते हैं । इसी मोह की वृत्ति के कारण हमारा मन अस्वस्थ हो जाता है और जीवन में अनेक दुर्गुण-दुर्विचार आ जाते हैं ।

मोह ही समस्त व्याधियों का मूल है, – फिर चाहे वह शरीर की व्याधि हो या मन की । और इसी एक मोह से प्रभावित होती हैं वे तीन वस्तुएँ, जो मनुष्य के जीवन को गति प्रदान करती हैं । यहाँ पर एक विभाजन रेखा बन जाती है । मन और शरीर को विकृत करने में समान रूप से कारण, यह मोह जिन तीन वस्तुओं को विकृत कर अनगिनत व्याधियाँ उत्पन्न करता है, वे शरीर के सन्दर्भ में वात, पित्त और कफ है तथा मन के संन्दर्भ में काम, क्रोध और लोभ । प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में वात, पित्त और कफ विद्यमान है, पर आयुर्वेद में इनके और अधिक सूक्ष्म अध्ययन की दृष्टि से इन्हें पुनः तीन में विभाजित किया गया है । यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में ये तीनों विद्यमान रहते हैं, पर किसी शरीर में वात की प्रधानता होती है, तो किसी में पित्त की और किसी में कफ की । इन तीनों की प्रधानता को दृष्टि में रखकर

मनुष्यों का विभाजन किया गया है – वातप्रधान, पित्तप्रधान और कफप्रधान। अब इसी सूत्र को गोस्वामीजी मन के सन्दर्भ से जोड़ देते हैं। वे कहते हैं कि ठीक शरीर के तत्वों की ही भाँति मन में भी काम-क्रोध-लोभ विद्यमान रहते हैं; लेकिन किसी व्यक्ति के मन में काम की प्रधानता रहती है, किसी में क्रोध की और किसी में लोभ की। और यह स्पष्ट दिखाई भी देता है कि व्यक्ति इन तीनों में से किसी न किसी एक से ग्रस्त रहता है आवेष्ठित रहता है। शरीर के सन्दर्भ में जैसे पेट के रोगों का सम्बन्ध बहुधा पित्त से होता है और श्वास यंत्र से सम्बन्धित रोगों का कफ से। इसी प्रकार मन के सन्दर्भ में क्रोध की तुलना गोस्वामीजी पित्त से करते हुए कहते हैं –

क्रोध पित्त नित छाती जारा। ७/१२०/३०

इसका अभिप्राय यह है कि अहंकार होने के कारण क्रोध आता है। क्रोध अहंकार की ही अभिव्यक्ति है। क्रोध क्यों आता है ? जैसे पित्त की विकृति से पेट रुग्ण हो जाता है, भोजन का पचना कठिन हो जाता है इसी प्रकार अहंकार को चोट पहुँचने पर क्रोध आता है। क्रोध और अहंकार बड़ी गहराई से जुड़े हुए हैं। इसी प्रकार श्वास-यंत्र से जुड़ा हुआ है कफ और अब हम जिस रोग की चर्चा करने जा रहे हैं वह राजयक्ष्मा या टी. बी. भी श्वास-यंत्र का ही रोग है। आपने देखा होगा कि जो यक्ष्मा (टी.बी.) के रोगी हैं, उन्हें बहुधा कफ निकला करता है और उस कफ में रोग के कीटाणु विद्यमान रहते हैं। उसका हृदय उस कफ से आक्रान्त रहता है और उससे वह दुःखी रहता है। इसे ही गोस्वामीजी मन के सन्दर्भ में कहते हैं –

पर सुख देखि जरनि सोइ छई। ७/१२०/३४

– दूसरों के सुख को देखकर हृदय में जलन होना, यही मन की यक्ष्मा (टी. बी.) है। यह मूलतः लोभ की शाखा का रोग है।

जैसे काम के साथ ईर्ष्या जुड़ी हुई है; कामी व्यक्ति के जीवन में काम के परिणामस्वरूप आसक्ति का जन्म होगा। उसी तरह लोभ के साथ ईर्ष्या जुड़ी हुई है। लोभी व्यक्ति ईर्ष्यालु अवश्य होगा। व्यक्ति जितना अधिक कामी होगा, उतना ही अधिक आसक्त होगा। लोभी व्यक्ति में भी लोभ जितना अधिक होगा, वह ईर्ष्यालु भी उतना ही अधिक होगा और दूसरों के सुख देखकर उसे उतनी ही अधिक पीड़ा होगी। इसी बात को गोस्वामीजी ने भिन्न-भिन्न पात्रों के माध्यम से प्रकट किया है।

यहाँ पर लोभ और ईर्ष्या की वृत्ति में कितने निकट का सम्बन्ध है, इस ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करूँगा। अगर व्यक्ति के मन में निर्विवाद रूप से किसी वस्तु की माँग है तो वह है सुख की माँग। यद्यपि सुख की व्याख्या को लेकर मतभेद है, क्योंकि सुख की व्याख्या अलग अलग रूपों में की जाती है। लेकिन अधिकांश व्यक्ति भौतिक पदार्थों की उपलब्धि को ही सुख के रूप में देखते हैं। और समाज में जो यह इतनी छीना-झपटी है, वह सुख को ही लेकर है। प्रत्येक व्यक्ति को एक ही बात की चिन्ता बनी रहती है कि सुख की अधिक-से-अधिक सामग्री हमारे पास एकत्रित हो जाय और दूसरों के पास हमसे अधिक न होने पाए। यह सुख की सामग्री एकत्रित करना लोभ है और दूसरे के पास मुझसे अधिक न होने पाए – यह ईर्ष्या है। ये दोनों वृत्तियाँ एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई हैं। यह जो व्यक्ति, परिवार तथा समाज में इतनी आपा-धापी, झगड़ा और संघर्ष है, सब सुख की वस्तुओं के बँटवारे को ही लेकर है।

आजकल भ्रष्टाचार की आलोचना बड़ी व्यापक है। हर मंच से, समाचारपत्रों में भी, जहाँ देखिए वहीं भ्रष्टाचार की बड़ी चर्चा है। लेकिन बड़ी विचित्र बात है कि भ्रष्टाचार पर इतना विचार किया जाता है, इतना कहा जाता है, पर भ्रष्टाचार मिटता क्यों

नहीं ? इसका रहस्य यह है कि वस्तुतः झगड़ा अगर भ्रष्टाचार मिटाने का हो तो भ्रष्टाचार मिट जाय। पर यह झगड़ा भ्रष्टाचार मिटाने का नहीं, भ्रष्टाचार के बँटवारे का है। असल में हम जो झगड़ते हैं, वह इस बात पर कि इस भ्रष्टाचार में हमें कम भाग मिल रहा है और दूसरे अधिक ले रहे हैं। ये सारी वृत्तियाँ एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं और इसके मूल में है लोभ और ईर्ष्या। प्रत्येक व्यक्ति में ये विद्यमान हैं। लोभ के कारण वह सारी सुख-सुविधा की वस्तुएँ अपने लिए एकत्र कर लेना चाहता है और ईर्ष्या के कारण वह दूसरों का सुख एवं समृद्धि देखकर असन्तुष्ट होता है।

अब इसका समाधान क्या है ? इस समस्या के समाधान के लिए कई बातें सोची गईं, पुराणों में इसका समाधान ढूँढ़ने की कोशिश हुई, वेदान्त ने प्रयास किया, भक्ति तथा कर्मसिद्धान्त के द्वारा प्रयत्न हुआ और शासन भी इसके समाधान की चेष्टा करता है। इस लोभ व ईर्ष्या के समाधान के लिए शासनतन्त्र भय तथा दण्ड को प्रधानता देता है। लोगों के मन में अगर शासनतन्त्र के दण्ड का भय रहे तो उनमें लोभ और संग्रह की वृत्ति न आकर देने की वृत्ति आएगी। कर इत्यादि के रूप में शासन इसे नियन्त्रित करने की चेष्टा करता है। इस तरह भय की वृत्ति भी एक उपाय है। धर्म में भी उस भय का प्रयोग किया गया, पर दूसरे रूप में, और उसके साथ प्रलोभन भी जोड़ दिया गया। धर्म में एक ओर तो यह भय दिखाया गया कि अन्याय तथा भ्रष्टाचार के द्वारा तुम जो कुछ भी संचय करोगे, वह सब अन्त में छोड़कर खाली हाथ जाना होगा। इस प्रकार धर्म में मृत्यु और पुनर्जन्म का भय दिखाया गया और भक्तों ने भगवान का भय दिखाया। अतः भय की वृत्ति के द्वारा भी बचा जा सकता है। रामचरितमानस में जो प्रसंग आता है – तीन यात्री वन के मार्ग

में चले जा रहे हैं – भगवान श्रीराम, जनकनन्दिनी श्रीसीता और श्रीलक्ष्मण । गोस्वामीजी इन तीनों यात्रियों का वर्णन करने के बाद कहते हैं कि जिसने भी इन्हें चलते हुए देखा है, या इन्हें हृदय में धारण किया है, वह व्यक्ति संसार पथ को बड़ी सरलता से पार कर लेता है –

जिन्ह जिन्ह देखे पथिक प्रिय सिय समेत दोउ भाई ।

भव मगु अगमु अनंदु तेई बिनु श्रम रहे सिराई ।।२/१२३

– इसका अभिप्राय क्या है ? यह कि ये तीनों यात्री हमें जीवनपथ पर चलने की शिक्षा दे रहे हैं । यदि हम इन तीनों यात्रियों से जीवनपथ पर चलना सीख लें, तो बड़ी सरलता के साथ अपने लक्ष्य तक पहुँच जाएँगे । इन तीन यात्रियों के क्रम में जो तीन संकेत हैं, उनमें पहला है – 'आगे राम' और दूसरा संकेत है –

प्रभु पद रेख बीच बिच सीता ।

धरति चरन मग चलति सभीता ।।२/१२३/५

दूसरा संकेत है –

सीय राम पद अंक बराएँ ।

लखन चलहिं मगु दाहिन लाएँ ।।२/१२३/६

इन पंक्तियों में एक क्रमसंकेत है । पहला संकेत है - 'आगे राम' । और इसका अभिप्राय क्या है ? यह कि जीवनपथ में हम अकेले न चलें, अपितु ईश्वर को साथ लेकर चलें । अधिकांश व्यक्ति कह सकते हैं कि हम तो जब भी यात्रा प्रारम्भ करते हैं, ईश्वर का स्मरण कर लेते हैं । हम तो निरन्तर ईश्वर को साथ लेकर चलते हैं । गोस्वामीजी तुरन्त एक शब्द कहकर सावधान कर देते हैं - 'आगे राम' । ईश्वर को लेकर चलते हैं पर आगे या पीछे ? इसका अभिप्राय यह है कि हम ईश्वर से यही कहते हैं कि हमारा जहाँ स्वार्थ है, जहाँ वासना है, वहाँ हम जा रहे हैं,

आप भी हमारे पीछे पीछे आइए । आगे आगे चलकर सही दिशा हम बताएँगे, आप हमारा अनुगमन करें । गोस्वामीजी कहते हैं - पीछे नहीं, 'आगे राम' । कोई पूछ सकता है कि ईश्वर तो साथ है, फिर आगे हैं या पीछे, इससे क्या फर्क पड़ता है ? नहीं, इसमें बहुत बड़ा अन्तर है । इसीलिए लक्ष्मण और इन्द्र के सन्दर्भ में बड़ी प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग लिया गया । भगवान राम विष्णु के अवतार हैं । लक्ष्मणजी ने उन्हें बड़े भाई के रूप में देखा और उन्हें आगे करके चल रहे हैं । परन्तु भगवान ने जब इन्द्र से पूछा तो उन्होंने कहा कि आप मेरे छोटे भाई बनिए । क्यों ? इन्द्र स्वर्ग का राजा है, भोगी है और लक्ष्मणजी मूर्तिमान वैराग्य हैं ।

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर ।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें शरीर ॥ २/३२१

लक्ष्मण वैराग्यवान हैं और इन्द्र भोगी । इसका तात्त्विक तात्पर्य यह है कि जो वैराग्यवान है, वह भगवान के पीछे चलता है, पर जो भोगी है, वह तो ईश्वर को पीछे ही रखता है । उसे यही चिन्ता रहती है कि भगवान यदि बड़े भाई बन गए तो उनकी बात माननी पड़ेगी और छोटे भाई बने रहेंगे तो उन्हें हमारे पीछे आना पड़ेगा, हम जो कहेंगे उसे मानना पड़ेगा । हम ईश्वर की बात नहीं मानना चाहते, ईश्वर के पीछे चलना नहीं चाहते । हम तो ईश्वर को अपने छोटे भाई की तरह पीछे पीछे आने के लिए, हम जो कहें उसे मानने के लिए कहते हैं । लेकिन रामचरितमानस का दर्शन क्या है ? इस सन्दर्भ में गोस्वामीजी एक बड़ा महत्वपूर्ण सूत्र देते हैं ।

पहला सूत्र है 'आगे राम' और दूसरा है 'सभीता' । भय के सन्दर्भ में चर्चा कुछ पूर्व हुई है; भय का बड़ा महत्व है । जनकनन्दिनी सीता और लक्ष्मण, दोनों भगवान श्रीराम के पीछे

चलते हैं और दोनों अत्यन्त डरे हुए हैं। यह बड़ी विलक्षणता है। इस यात्रा में सीताजी के सन्दर्भ में यह बात आती है –

प्रभु पद रेख बीच बिच सीता।
धरति चरन मग चलति सभीता॥ २/१२३/५

सीताजी की दृष्टि नीचे है और वे डर डर कर एक एक पग उठा रही हैं। भगवान श्रीराम के दो चरणचिह्न जहाँ जहाँ बनते हैं, उन दो चरणों के बीच में डरते हुए वे अपने चरण रखती हैं। सीताजी डरकर चल रही हैं। यह तो ठीक है, पर अब एक बड़ी विचित्र बात देखीये – लक्ष्मणजी कैसे चलते है ? अगर पूछा जाय कि रामायण में सबसे अधिक निर्भीक पात्र कौन है, तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि लक्ष्मण के समान निर्भीक पात्र कोई नहीं है। क्योंकि जो मृत्यु और काल के देवता से भी न डरे. जिसके मुख से यह बात बार बार निकले कि –

जौं सहाय कर संकरु आई।
तो मारउँ रन राम दोहाई॥ २/२३०/८

जिसे महाकाल से भी भय नहीं है, उससे बढ़कर निर्भय कोई हो नहीं सकता। लेकिन रामायण में अगर सबसे अधिक डरनेवाला कोई पात्र है, और विशेषकर भगवान से सबसे अधिक डरनेवाला, तो वे हैं लक्ष्मणजी। गोस्वामीजी ने पग पग पर इसे दुहराया है कि लक्ष्मणजी भगवान से निरन्तर डरते रहते हैं। जनकपुर में लक्ष्मणजी के मन में नगर देखने की इच्छा हुई, पर बोल नहीं पा रहे हैं। क्यों नहीं बोल पा रहे हैं ? गोस्वामीजी एक ही उत्तर देते हैं –

लखन हृदयँ लालसा बिसेषी।
जाइ जनकपुर आइअ देखी॥
प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं।
प्रगट न कहहिं मनहिं मुसुकाहीं॥ १/२१८/१-२

भगवान राम के सामने बोलने में डर लग रहा है। इसके पश्चात् गोस्वामीजी ने वर्णन किया है – भगवान श्रीराम रात्रि में शयन कर रहे हैं। लक्ष्मणजी उनके चरणों को गोद में लेकर दबा रहे हैं। लेकिन चरण दबाते समय उनकी स्थिति क्या है ?–

चापत चरन लखनु उर लाएँ।
सभय सप्रेम परम सचु पाएँ॥ १/२२६/६

लक्ष्मणजी डरते हुए भगवान राम के चरणों को दबा रहे हैं। और जब जनकजी की सभा में उनकी वाणी सुनकर क्रोध आ गया तब ?

कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान। १/२५२

लक्ष्मणजी को भगवान राम से डर लग रहा है। जनकनन्दिनी श्रीसीता का श्रीराम से डरना तो स्वाभाविक लगता है। वे भक्ति जो हैं। वे चलते हुए एक एक पग डरते हुए रखती हैं कि कहीं ऐसा न हो कि श्रीराम के चरणचिह्नों पर पर मेरे पाँव पड़ जायँ और वे मिट जायँ। पर लक्ष्मणजी तो दोहरे डरे हुए हैं। सीताजी तो केवल श्रीराम के चरणचिह्नों को बचाकर चल रहीं हैं, लेकिन लक्ष्मणजी के सामने तो दो के चरणचिह्न हैं और उन्हें उन दोनों को बचाने की चिन्ता लगी है। वे दोनों को बचाते हुए सभीत और सजग भाव से चल रहे हैं। सीताजी महाशक्ति हैं और लक्ष्मणजी शेष हैं – कालतत्व। ये दोनों भगवान राम से क्यों डरते हैं ? एक बार भगवान श्रीराम ने लक्ष्मणजी से पूछ दिया – लक्ष्मण, तुम तो शेष हो, अनन्त काल हो, तुम मुझसे क्यों डरते हो ? लक्ष्मणजी ने कहा – महाराज, मैं चाहता हूँ कि लोग समझ लें कि मैं अनन्त शेष होकर भी ईश्वर से डरता हूँ। तो आप लोग भी डरते ही रहिएगा, तभी कल्याण है। जब मुझे ही ईश्वर से डर लगता है, तो आप ईश्वर से निर्भय रहें, यह तो मर्यादा का संरक्षण नहीं है। ईश्वर के पदचिह्नों का संरक्षण

अर्थात मर्यादा का संरक्षण। इसका अभिप्राय क्या है ? मर्यादा माने क्या ? भगवान श्रीराम को सूचना दी गई कि कल आप अयोध्या के राजसिंहासन पर बैठेंगे। और उस सूचना को सुनकर भगवान राम के मन पर जो प्रतिक्रिया हुई, वही भगवान राम की बनाई हुई वह रेखा, वह पदचिह्न है, जिसे उन्होंने अपने व्यवहार और चरित्र के माध्यम से समाज में प्रकट किया।

व्यक्ति राज्य और सत्ता पाने के लिए निरन्तर व्यग्र रहता है। इसके लिए अन्याय और अधर्म करने में भी वह रंच मात्र संकोच नहीं करता, पर राज्य पाने की सूचना पाकर भगवान राम के मन पर जो प्रतिक्रिया हुई, यही भगवान राम के चरित्र का दर्शन है। गोस्वामीजी कहते हैं – समाचार सुनकर प्रभु उदास हो गये। यही भगवान राम का विवेक है। उनके अन्तःकरण में त्याग की वृत्ति है, दूसरों के प्रति उदारता है, अपनत्व है। भगवान राम को राजपद पर बैठ जाने की प्रसन्नता नहीं है, सुख नहीं है, बल्कि उन्हें चिन्ता होने लगी –

जनमे एक संग सब भाई।
भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा।
संग संग सब भए उछाहा॥ २/१०/५-६

यद्यपि राम कुछ बड़े हैं, पर सोचते है कि हम चारों भाइयों का जन्म एक साथ हुआ, साथ खेले, उपनयन और विवाह भी एक साथ हुआ। पर उदास क्यों हो गये ?

बिमल बंस यह अनुचित एकू।
बंधू बिहाई बड़ेहि अभिषेकू॥ २/१०/७

भगवान राम उदास होकर सोचने लगे कि इस पवित्र सूर्यवंश में यही परम्परा बड़ी बुरी है कि छोटे को छोड़कर बड़े को राज्य दिया जाता है।

मानस की इस पंक्ति का तात्पर्य यह नहीं है कि इसे पढ़कर लोग गदगद हो जायँ, यह सोचकर आँखों में आँसू आ जाय कि भगवान राम दूसरों का कितना ध्यान रखते हैं। गोस्वामी जी तुरन्त कहते हैं – भगवान राम के हृदय में यह जो भावना है, उससे प्रेरित होकर यदि हम अपने से छोटों के प्रति ध्यान रखें, तो हम सही अर्थों में भगवान राम के पदचिह्नों को बचाकर उन्हें ठीक ठीक अपने जीवन में स्वीकार कर पाएँगे। इस प्रसंग को पढ़ने के बाद भी अगर हममें दूसरों के सुख-साधनों को छीनकर स्वयं सुखी होने की वृत्ति बनी रही, तब तो हम भगवान राम के पदचिह्नों को नहीं बचा पाए, उनकी मर्यादा को अपने जीवन में नहीं उतार पाए। इसे पढ़ने के बाद तो परिणाम यह होना चाहिए –

प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई।
हरउ भगत मन कै कुटिलाई॥ २/१०/८

हमारी स्वार्थपरता, कुटिलता और सठता की वृत्ति दूर हो जाय। भगवान राम ने अवतरित होकर जो पदचिह्न बनाए हैं, जिन मर्यादाओं की स्थापना की है उन्हें बचाकर, अपने जीवन में उसे स्वीकार कर, हम चलने की चेष्टा करें, यही प्रसंग की सार्थकता है। जनकनन्दिनी श्रीसीता और लक्ष्मणजी सर्वत्र यही संकेत देते हैं। (क्रमशः)

भविष्य का धर्म

आज हमको बुद्धि के इस प्रखर सूर्य (शंकराचार्य) के साथ बुद्धदेव का अद्भुत प्रेम और दयायुक्त हृदय चाहिए। इसी सम्मिलन से हमें उच्चतम दर्शन की उपलब्धि होगी। विज्ञान और धर्म एक-दूसरे का आलिंगन करेंगे। कविता और विज्ञान मित्र हो जाएँगे। यही भविष्य का धर्म होगा। *- स्वामी विवेकानन्द*

प्रबुद्ध भारत के प्रति

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी के निर्देशानुसार १८९६ ई. में उनके मद्रासी शिष्यों ने 'प्रबुद्ध भारत' नाम की एक अंग्रेजी मासिक पत्रिका आरम्भ की थी, परन्तु अभुतपूर्व लोकप्रियता हासिल होने के बावजूद दो वर्ष बाद ही सम्पादक के असामयिक निधन के कारण उसका प्रकाशन बन्द कर देना पड़ा। इस बीच स्वामीजी 'रामकृष्ण मिशन' नामक संस्था आरम्भ कर चुके थे और इसी के मुखपत्र के रूप में, उन्होंने दो महीने के भीतर ही अल्मोड़ा से पुनः इसका प्रकाशन आरम्भ कराया। इसी नवीन प्रवेशांक के लिए आह्वान के रूप में स्वामीजी ने प्रस्तुत कविता लिखी थी। इसका हिन्दी काव्यानुवाद स्वामी आत्मानन्दजी द्वारा हुआ है। – स.)

जाग फिर से ! जाग फिर से !
वह नहीं थी मृत्यु तेरी,
आ गई थी गाढ़ निद्रा
प्राण में नव-स्फूर्ति भरने,
नयन को विश्रान्ति देने,
क्योंकि अब भी चौंधियाते
दृश्य आते जा रहे हैं।
विश्व अब भी जोहता है,
सत्य तेरी बाट सचमुच।
वस्तुतः तू चिर अमर है।

पुनः कर दे क्रमण जारी
सावधानी से बढ़ा चल
ताकि जिससे हो न बाधा
मात्र अणु रज-कणों तक को
शान्ति में चुपचाप नीचे
जो पड़े पथ-बाजुओं से
त्यक्त निर्वासित सरीखे।
पर बली आनन्दमय हों
मुक्त, स्थिर औ' साहसी पग।
सुप्तिनाशक ! हे चिराग्रणि।

बोल ऐसे शब्द तू जो
प्राण में हलचल मचा दें।

अब नहीं घर द्वार तेरा
जहाँ तुझको प्रिय जनों ने
स्नेहपूरित अंक में ले
आँख की पुतली बनाकर,
स्नेह से वर्धित किया था।
पर अटल है नियम विधि का,
सर्व दृश्य - अदृश्य चीजें
लौट आती हैं वहाँ ही
जहाँ से उत्थित हुई हैं –
स्वयं में नव-प्राण भरने ।

पुनः नूतन प्रस्रवित हो,
स्व-प्रसविनी मातृ-भू से
हिमाच्छादित शुभ्र शिखरें,
जहाँ दे आशीष तुझको
भर रहे हैं शक्ति अपनी
नित्य तुझमें, वीर ! जिससे
कर सके तू स्तब्ध जग को।
सुर नदी बहती जहाँ पर,
चिर-अमर निज गीति-सुर से
एकलय कर राग तेरा;
दे रही है शान्ति शाश्वत
देवदारु - प्रभात - छाया।

और सर्वोपरि - उमा वह,
हिंमसुता वह शान्त, पूता,
शक्ति के औ' प्राण के जो
रूप में है रमी जननी,
सर्वभूतों में निरन्तर

कार्य सब कुछ जो चलाती,
कर रही उस 'एक' से यह
जग-प्रपंचित, कृपा जिसकी
खोल देती द्वार सत के
सर्व में उस 'एक' को औ'
देखने में क्षम बनाती –
वही माँ दे रही तुझको
अथक शक्ति, स्वरूप जिसका
प्रेम - सीमा नहीं जिसकी।

दे रहे आशीष तुझको,
वे सभी ऋषिवर्य, जिनको
देश कोई काल कोई
कह न सकता कभी अपना–
पितृगण इस जाति के जो–
मर्म जिनने सत्य का बस
एक ही अनुभव किया, औ'
निडर, निःसंकोच होकर –
बुरी भाषा, या भली में –
उसे मानव को पढ़ाया।
उन्हीं का तू दास है, सो
'ज्ञान गूढ़' तुझे मिला यह –
±वस्तु केवल एक ही है।

प्रेम हे! फिर करो मुखरित,
शान्त अपनी स्निग्ध वाणी,
सृष्टि माया की हुई जा
रही लय, देखो! उसी से
और छायास्वप्न के सब
मोड़ पर ये मोड़ खुलकर
शून्य में मिल जा रहे है,

अन्त में बस सत्य निर्मल
'स्वे महिम्नि' विराज करता ।

और घोषित करो जग में –
उठो, जागो, स्वप्न छोड़ो ।
यह जगत् है स्वप्न-रचना,
जहाँ माला गूँथता है
बिना धागा कर्म अपना,
भाव-कुसुमों को पिरोकर –
बिना डण्ठल, बिना जड़ के ।
भले अथवा बुरे हों वे -
क्योंकि वे हैं जन्म लेतीं
घन असत् के गर्भ में से,
जिन्हें लौटा डुबा देता
सत्य का वह श्वास मृदुतम
आदि की उस शून्यता में ।
निडर होओ, सत्य को औ,
गले से अपने लगा लो !

सत्य से मिल एक होओ !
नष्ट होवें कर्म-सपनें,
या न हो यह कार्य सम्भव,
यदि रहे ही स्वप्न-लीला,
तो रहे फिर स्वप्न, जिसकी
सत्य की ही ओर गति हो,
स्वप्न हों निष्काम सेवा
और निरवधि प्रेम ही के ।

☆

श्री चैतन्य महाप्रभु (२२)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बँगला में लिखित उनका 'श्रीश्रीचैतन्यदेव' ग्रन्थ श्री चैतन्य महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, जिसका हिन्दी अनुवाद धारावाहिक रूप से यहां प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

चैतन्यदेव ने व्रजेश्वर को साष्टाग प्रणाम कर अपनी पुनर्यात्रा प्रारम्भ की और मथुरा, महावन आदि के रास्ते से वे लौट चले। राजपूत भक्त कृष्णदास और मथुरा के ब्राह्मण दोनों ही शाखामार्ग पर गंगातट तक उन्हें पहुँचाने साथ आये। चलते चलते पथ में एक स्थान पर श्रीकृष्ण-लीला की उद्दीपना हो जाने से चैतन्यदेव को भावावेश हुआ और वे बाह्यसंज्ञा खोकर धरती पर गिर पड़े। उसी समय दस पठान घुड़सवार सैनिक उधर से होकर जा रहे थे। उन्होंने जब एक परम सुन्दर युवा संन्यासी को इस प्रकार अचेत अवस्था में धरती पर पड़े देखा, तो कौतुहलवश वे निकट आ पहुँचे। उन लोगों के सरदार ने थोड़ी देर तक महाप्रभु की ओर देखने और सोचने के बाद कहा, "अवश्य ही इन संन्यासी के पास कुछ धन-दौलत था और इसीलिए इन लोगों ने इन्हें धतूरा खिलाकर बेहोश कर दिया है कि उनका सब कुछ हरण कर सकें। गिरफ्तार कर लो इन लोगों को!" सरदार का आदेश पाकर सैनिकों ने चैतन्यदेव के संगियों को बाँध लिया और उनका अपराध स्वीकार कराने को नंगी तलवार लहराते हुए उनका सिर काट डालने की धमकी देने लगे। ब्रलभद्र भट्टाचार्य और उनके सेवक ब्राह्मण भी डर गये। परन्तु कृष्णदास राजपूत क्षत्रिय थे, बड़े साहसी थे, वे अत्यन्त निर्भयतापूर्वक बादशाह की दुहाई देते हुए बोले, "हम लोग निरपराध है, तुम लोग व्यर्थ ही हमारे ऊपर अत्याचार कर रहे हो। ये संन्यासी हमारे गुरु हैं। हम इनके

आश्रित शिष्य हैं और इनकी सेवा करने को साथ चल रहे हैं। इन्हें मिरगी का रोग है, जिससे बीच बीच में इन्हें मुर्च्छा आ जाती है, पर थोड़ी ही देर में वे ठीक हो जाते हैं। हमारे बन्धन खोल दो। थोड़ी सी सेवा-सुश्रूषा करने से क्षण भर में ही वे स्वस्थ हो जायेंगे। तुम लोग थोड़ी प्रतीक्षा करके देखो।" इस पर पठान सरदार हँसते हुए बोला, "तुम दोनों पश्चिमी डकैत हो और ये बंगाली ठग-बटमार लगते है। तुम्हारी बातों पर विश्वास नहीं किया जा सकता।" कृष्णदास ने कहा, "तो फिर हमें स्थानीय प्रशासक के पास ले चलो, वहाँ हमारे परिचित लोग हैं। उनसे हमारा परिचय पूछ लेना।" सेनापति ने उनकी बात नहीं मानी और उन्हें बन्धंनमुक्त भी नहीं किया। साथ के सभी लोगों को भय से काँपते देखकर कृष्णदास ने उत्तेजित स्वर में पुनः कहा, "मैं इसी गाँव का हूँ और यहाँ पर सौ अश्वारोही और दो सौ तीरन्दाज रहते है। मेरे आवाज देते ही वे तुरन्त चले आयेंगे और तुम्हारा घोड़ा-वोड़ा लूटकर तुम सबका काम तमाम कर देंगे। ये बंगाली लोग नहीं, बल्कि तुम्हीं लोग बटमार हो, जो तीर्थयात्रियों को लूटकर उन्हें मार डालना चाहते हो।"

कृष्णदास का परिचय पाकर सैनिकों में भय छा गया। उन लोगों ने अविलम्ब सबको मुक्त कर दिया। संगीगण मुक्त होकर चैतन्यदेव के कानों में कृष्णनाम सुनाने लगे। उनके प्रयास से थोड़ी ही देर में महाप्रभु की बाह्यसंज्ञा लौट आयी। स्वाभाविक अवस्था में आकर उनके उठकर बैठ जाने के बाद पठान सेनापति ने उनसे पूछा कि इन लोगों ने धतूरा खिलाकर उन्हें अचेत करके उनका धन आदि लूटा है या नहीं। इसके उत्तर में चैतन्यदेव ने बताया कि वे एक अकिंचन संन्यासी है, उनके पास धन-दौलत आदि कुछ भी नहीं है और बीच बीच में मुर्च्छा रोग के कारण वे

अचेत हो जाते है; तब ये संगीगण ही कृपा करके उनकी सेवा-सुश्रूषा करके प्राणरक्षा करते हैं और ये लोग उनके परम मित्र हैं।

चैतन्यदेव की मधुर वाणी सुनकर उन सैनिकों के अन्तर में प्रीति का संचार हुआ। उनमें से एक इस्लामी धर्मशास्त्र के विद्वान थे। उन्होंने संन्यासी के साथ धर्मतत्व पर चर्चा आरम्भ की। उन्होंने अपने शास्त्र के अनुसार एक जगत्कारण परमेश्वर को निराकार अद्वयतत्व के रूप में प्रतिपादित करते हुए साकार उपासना के विपक्ष में तर्क दिये। चैतन्यदेव ने उनकी एकांगी युक्तियों का खण्डन करते हुए उन्हें समझा दिया कि एक अद्वितीय वस्तु ही सगुण-साकार रूप में भक्त द्वारा उपासित होते हैं तथा भवबन्धन का नाश तथा परमानन्द की प्राप्ति के लिए भक्तिमार्ग तथा साकार उपासना की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त अन्य सूक्ष्म विषयों पर भी चैतन्यदेव की सारगर्भित एवं युक्तिपूर्ण बातें सुनकर मुसलमान पण्डित के मन में श्रद्धा का उदय हुआ। वे महाप्रभु के सिद्धान्त-वाक्यों का समर्थन करते हुए बोले, "शास्त्रों का मर्म हृदयंगम करना बड़ा ही कठिन है। सबके शास्त्र उस एक ही परमतत्व की बात कहते हैं, परन्तु लोग उनका यथार्थ मर्म न समझ पाने के कारण ही परस्पर वाद-विवाद और झगड़ा करते हैं। आपकी कृपा से आज मेरा संशय दूर हो गया।"

चैतन्यदेव ने उन्हें और भी समझाते हुए कहा, "दुर्बल जीव के लिए भगवत्-उपासना को छोड़ दूसरी कोई गति नहीं है और प्रेमभाव से उनकी उपासना करने पर सहज ही उनकी कृपा होती है।" उन मुसलमान पण्डित के मन में तब प्रेमभक्ति की साधनप्रणाली सुनने की बड़ी आकांक्षा हुई। चैतन्यदेव ने उपयुक्त अधिकारी समझकर उन्हें सहज सरल भाव से संक्षेप में उच्चमार्ग

के साध्य-साधनतत्व तथा भजन-प्रणाली का उपदेश दिया। उन युक्तियुक्त उपदेशों से उनका सारा संशय दूर हुआ और वे स्वयं को कृतार्थ मानने लगे। श्रीचैतन्य की कृपा से इन पठान भक्त का हृदय द्रवित हो गया और महाप्रभु ने स्नेहपूर्वक उन्हें 'रामदास' कहकर सम्बोधित किया।

उस दल में बिजली खाँ नाम के एक राजवशीय युवक भी थे। उनका भी चित्त चैतन्यदेव के तत्वोपदेश की ओर आकृष्ट हुआ और उन्होंने भी संन्यासी से साधन-भजन सम्बन्धी उपदेश ग्रहण किये। परवर्ती काल में वे ही युवक एक परम भक्त के रूप में तथा अपने बहुविध जनहितकर कार्यों के लिए प्रसिद्ध हुए।

ब्रजमण्डल से निकलकर उपपथ से चलते हुए गंगातट पर पहुँचकर चैतन्यदेव ने भक्त राजपूत तथा माथुर ब्राह्मण को विदा करना चाहा, परन्तु वे लोग अत्यन्त विनयपूर्वक कहने लगे, "इस जीवन में फिर आपका चरणसंग कहाँ मिलने वाला है! अतः हम लोग भी आपके साथ प्रयाग तक जायेंगे। फिर इस म्लेच्छ देश में न जाने कौन कहाँ उत्पात खड़ा करे और भट्टाचार्य महाशय तो बातें भी करना नहीं जानते।" वास्तव में ही उन दिनों उस अंचल में बंगाली लोगों का चलना-फिरना बड़ा कठिन था। इसीलिए हम देखते हैं कि परवर्ती काल में चैतन्यदेव ने अपने प्रिय अन्तरंग भक्त जगदानन्द के मथुरा यात्रा के समय सावधान करते हुए कहा था, "वाराणसी तक तो तुम निश्चिन्त भाव से पथ चलते जाओगे, परन्तु वहाँ से किसी क्षत्रिय आदि को साथ लेकर सावधानीपूर्वक जाना। उधर अकेले बंगाली को देखते ही लोग उसे लूटकर बाँध लेते हैं।"

गंगातट पर आकर सोरोंक्षेत्र[1] का दर्शन करके तेजी से चलते हुए वे लोग यथाशीघ्र प्रयाग आ पहुँचे। सोरोंक्षेत्र भगवान वराह का जन्मस्थान है। वहाँ वराहदेव, गंगादेवी तथा महादेव के सुप्रसिद्ध मन्दिर हैं और दसनामी संन्यासी सम्प्रदाय का एक मठ भी है। संन्यासीगण ही मन्दिर के सेवक है। प्रति वर्ष वहाँ एक विराट् मेला लगता है।

प्रति वर्ष माघ के महीने में प्रयाग के गंगा-यमुना के संगम पर सम्पूर्ण भारत के समस्त सम्प्रदायों के असंख्य साधु-महात्मा और गृहस्थ एकत्र होकर कल्पवास और स्नान-दान आदि करते हैं। यह प्राचीन प्रथा कब से चली आ रही है, इसका अनुमान असम्भव है। चैतन्यदेव भी वहाँ पहुँचकर उस विराट् भक्तमेले को देखकर मोहित हुए और उस महान् दृश्य को देखते हुए उल्लसित हृदय से उन्होंने अपने संगियों के साथ त्रिवेणी-संगम में स्नान किया। वहाँ पर उनकी एक पूर्वपरिचित दक्षिणी ब्राह्मण के साथ भेंट हुई। ब्राह्मण अतीव आग्रहपूर्वक उन्हें अपने निवास स्थान पर ले गये और बड़े श्रद्धा के साथ उन्हें भिक्षा करायी।

परिव्राजक संन्यासी को इस मेले में ही छोड़कर, अब हम आपको उनके दो विशेष अन्तरंग भक्तों रूप और सनातन, जो बाद में महाप्रभु द्वारा प्रवर्तित भक्तिमार्ग के प्रधान आचार्य के रूप में विख्यात हुए थे, की खोज में बंगाल की राजधानी में ले चलते हैं। चैतन्यदेव का दर्शन करने के बाद से ही रूप और सनातन का चित्त पूर्णरूप से 'तदर्पित' हो गया था। तब से उनके लिए

१ सोरोंक्षेत्र - शूकरक्षेत्र के रूप में सुपरिचित तीर्थस्थान। पूर्वोत्तर रेल्वे के अन्तर्गत कासगंज से नौ मील दूर सोरों स्टेशन पड़ता है। भगवान वराह का जन्मस्थान होने के कारण ही सम्भवतः इसका शूकरक्षेत्र या सोरों नाम पड़ा होगा। यहाँ पर चैतन्यदेव का भी एक मन्दिर दीख पड़ता है।

सांसारिक कार्य चलाना तथा राजकार्य का सम्पादन करना कठिन हो गया था। संसार में उनका मन नहीं लगता था और अन्तर का वैराग्य दिन पर दिन प्रबल होता जा रहा था। दोनों भाइयों ने राजकीय सेवा को त्यागकर बाकी जीवन चैतन्यदेव की सेवा तथा भगवद्भजन में बिताने का संकल्प किया। परन्तु अचानक ही ऐसे महान् उत्तरदायित्वपूर्ण राजकार्य को छोड़ देना अति कठिन था और नवाब के मन में सन्देह का उदय होने पर तो महाविपत्ति की सम्भावना थी। काफी सोच-विचार करने के बाद, और कोई उपाय न देखकर, उन्होंने यह संकट दूर करने के लिए एक योग्य ब्राह्मण को बहुत सा धन देकर पुरश्चरण आरम्भ कराया। दोनों ही अथाह वैभव के अधिकारी थे, धन-जन का उन्हें कोई अभाव नहीं था, अतः यथाशास्त्र यह अनुष्ठान चलने लगा।

इस बीच श्री रूप ने नवाब से छुट्टी की प्रार्थना की और ईश्वरेच्छा से उनकी छुट्टी मंजूर हो गयी। वे बहुत सा धन लेकर लौटे। उस धन का आधा हिस्सा उन्होंने ब्राह्मणों तथा साधु-भक्तों की सेवा में दान कर दिया, चौथाई भाग अपने सगे-सम्बन्धियों में बाँट दिया और बचा हुआ चतुर्थांश अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए रख लिया। इसके अतिरिक्त दस सहस्र मुद्राएँ उन्होंने गौड़ नगर के एक विश्वस्त वणिक के पास सनातन के लिए सुरक्षित रख दी। चैतन्यदेव का समाचार जानने के लिए रूप ने इसके पूर्व ही दो लोगों को पुरी भेज दिया था। उन लोगों ने लौटकर खबर दी कि महाप्रभु गोपनीयतापूर्वक उत्तर-पश्चिम की तीर्थयात्रा पर गये हैं। उनकी तीर्थयात्रा का संवाद पाकर रूप का मन बड़ा अधीर हो उठा। वे भी अपने छोटे भाई अनुपम के साथ उत्तर-पश्चिम की यात्रा पर चल पड़े। चलते चलते काशी

दर्शन करके प्रयाग पहुँचने पर उन्हें पता चला कि चैतन्यदेव व्रजभूमि का दर्शन करके त्रिवेणी में मकरस्नान करने को प्रयाग लौट रहे हैं। दोनों भाई वहीं ठहर गये। प्रयाग में साधुगण के संग निवास करते हुए वे तृषित चातक के समान चैतन्यचन्द्र के शीघ्र दर्शन की आशा में प्रतीक्षा करने लगे। रूप ने बंगाल से प्रस्थान करने के पूर्व ही एक गोपनीय पत्र के द्वारा सनातन को चैतन्यदेव की तीर्थयात्रा तथा भाई के साथ अपने उत्तर-पश्चिम जाने का संवाद दे दिया था। फिर रूप ने पत्र द्वारा सनातन को गौड़नगर के उन वणिक का पता देते हुए यह भी बता दिया था कि उनके पास सुरक्षित जमा दस हजार मुद्राओं में से वे आवश्यकतानुसार लेकर खर्च कर सकते हैं। फिर उस पत्र में उन्होंने उनसे शीघ्र मिलने की इच्छा भी व्यक्त की थी।

सनातन के अन्तर में भी चैतन्यदेव का संगलाभ करने की तीव्र आकांक्षा जाग उठी थी, परन्तु राजकार्य से मुक्त होने का उन्हें कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। वे नबाब के अति प्रिय और विश्वस्त मंत्री थे, उनका कार्य बड़ा ही उत्तरदायित्वपूर्ण था, अतः हुसेन साह उन्हें भला कहाँ छोड़नेवाले थे ! सनातन ने सोच-विचारकर देखा कि नबाब मुझे आसानी से मुक्त नहीं करेंगे। परन्तु किसी प्रकार उनकी नाराजगी का शिकार बन जाने पर वे मुझे अवश्य ही निकाल देंगे। काफी विचार करने के पश्चात् उन्होंने राजदरबार में जाना, नबाब से भेंट करना और कामकाज आदि सब बन्द कर दिया। इधर नबाब उन्हें न देखकर चिन्तित हुए और उनका समाचार लाने को आदमी भेजा। सनातन ने बताया, "मै अस्वस्थ हूँ।" समाचार पाकर नबाब का मन बड़ा उद्विग्न हो उठा और सनातन की चिकित्सा के लिए उन्होंने राजवैद्य को नियुक्त किया। राजवैद्य ने सनातन के आवास पर

जाकर उन्हें देखा और लौटकर नबाब से बोले, "सनातन का स्वास्थ्य तो ठीक ही है। उनके शरीर में कोई भी व्याधि नहीं है।" चिकित्सक के मुख से यह सुनकर कि सनातन स्वस्थ होकर भी घर में निवास कर रहें हैं, नबाब को अतीव विस्मय हुआ। खोज लेने पर उन्हें यह भी ज्ञात हुआ कि सनातन घर में रहकर ब्राह्मण पण्डितों के साथ शास्त्रपाठ, तत्त्वचर्चा और भगवद्भजन में समय बिता रहे हैं। उनकी अनुपस्थिति के कारण राजकार्य में बड़ी विश्रृंखला उत्पन्न हो गयी थी, जिसके कारण नबाब को बड़ी असुविधा हो रही थी। अपनी असुविधा के कारण वे पहले से ही चिन्ता में पड़े थे और अब सारा संवाद मिलने पर वे और भी चिन्तित हो उठे। स्वयं ही खोज-खबर लेने के उद्देश्य से वे एक अनुचर को साथ लेकर गोपनीयतापूर्वक सनातन के घर जा पहुँचे। पण्डितों की सभा में बैठे सनातन शास्त्र पर विचार कर रहे थे कि उसी समय वहाँ नबाब का आगमन हुआ। सभी लोग हक्के-बक्के होकर उठ खड़े हुए और घबराकर उनके प्रति यथोचित् सम्मान प्रदर्शित करने लगे। सनातन ने अत्यन्त आदर के साथ नबाब का स्वागत करते हुए उन्हें उपयुक्त आसन प्रदान किया। सनातन को भला-चंगा देखकर नबाब ने कहा, "मैंने तुम्हारे यहाँ चिकित्सक को भेजा था और उन्होंने लौटकर बताया कि तुम पूर्णतः स्वस्थ हो। मेरा सारा कार्य तुम्हारे ऊपर ही निर्भर है और तुम काम को छोड़कर घर में बैठे हो! तुम्हारे चलते मेरा सम्पूर्ण कार्य नष्ट हो रहा है। तुम्हारे दिल में क्या है, यह मुझसे साफ-साफ कहो।" सनातन बोले, "मेरे से अब काम नहीं होता, किसी और के द्वारा आप उन्हें सम्पन्न करा लीजिए।" इस पर सुल्तान क्रुद्ध होकर बारम्बार कहने लगे, "तुम्हारे बड़े भाई ने मेरे साथ डकैत के जैसा व्यवहार किया है। जीवों और पशुओं को

मारकर उसने मेरे कितने ही इलाके बरबाद कर दिये और अब तुम भी मेरा सबकुछ सत्यानाश करने पर तुले हो ।" सनातन हाथ जोड़कर निवेदन करने लगे, "आप इस देश के अधिपति हैं, अपराधियों को दण्डित कीजिए ।" नबाब के मन में बड़ा सन्देह जगा कि कहीं सनातन भाग न निकले, अतः उनको कैद करवाकर बंदीगृह में रखवा दिया।

थोड़े दिन बाद उड़ीसा की सीमा पर अशान्ति उत्पन्न होने के कारण नबाब को स्वयं ही वहाँ जाना पड़ा । नबाब ने अपने पुरातन विश्वस्त मंत्री सनातन से साथ चलने का विशेष अनुरोध किया, पर वे जाने में असहमति प्रगट करते हुए बोले, "आप वहाँ देवताओं को कष्ट देने जा रहे हैं इसलिए मैं आपके साथ जाने में असमर्थ हूँ ।" इस पर नबाब का सन्देह और बढ़ा । वे सनातन को और भी कड़े पहरे में रख गये । सनातन की बंदी अवस्था की बात सुनकर सबको बड़ा दुःख हुआ । उनके सगे-सम्बन्धी विशेष चिन्तित हुए । यह समाचार रूप से भी छिपा नहीं रहा ।

इधर रूप और अनुपम प्रयाग में चैतन्यदेव की प्रतीक्षा कर रहे थे कि अचानक ही एक दिन उन्हें महाप्रभु के शुभागमन का सवाद मिला । खबर पाते ही दोनों भाइयों ने अविलम्ब जाकर उनके श्रीचरणों में प्रणाम किया । उन्हें देखकर चैतन्यदेव के अन्तर में भी हर्ष का संचार हुआ । कुशलता का समाचार विनिमय करने के पश्चात् रूप ने अतीव खेदपूर्वक अपने अग्रज की बंदी अवस्था का उल्लेख करते हुए सारी घटना उन्हें कह सुनायी । चैतन्यदेव उन्हें आश्वासन देते हुए बोले, "भगवान अपने भक्त को अधिक दिन कष्ट में नहीं रखते, सनातन शीघ्र ही मुक्त हो जाएँगे और अविलम्ब मुझसे आ मिलेंगे ।"

त्रिवेणी संगम के निकट ही चैतन्यदेव का रहना ठीक हुआ और ये दोनों भाई भी उनके समीप ही ठहरे। हम पहले ही देख आये हैं कि रूप और सनातन, अपने मुसलमान नबाब के संसर्ग अथवा किसी अन्य कारणवश, स्वयं को पतित मानकर संकुचित रहते थे और चैतन्यदेव के समीप आने अथवा श्रीचरण स्पर्श करने से कतराते थे। यहाँ तक कि महाप्रभु जब जबरन उनका आलिंगन करना चाहते तो भी वे विनम्रतापूर्वक मना करते रहते थे। परन्तु वे इन लोगों की बात पर ध्यान न देकर, इन्हें परम पवित्र मानकर प्रेमालिंगन में बद्ध करते हुए पुलकित हो जाते। वे इन लोगों की लज्जा संकोच को दूरकर जितना ही अपनी ओर खींचने का प्रयास करते, उतना ही ये लोग स्वयं को और भी दोषी मानते। आखिरकार चैतन्यदेव ने शास्त्रप्रमाण की सहायता से उनका संशय दूर करते हुए समझा दिया कि भगवद्भक्ति सर्वाधिक पवित्र वस्तु है, भक्ति के प्रभाव से नीच व्यक्ति भी उच्च-पवित्र हो जाता है और उच्चकुल में जन्म लेकर भी भक्तिहीन व्यक्ति महा अपवित्र होता है। महाप्रभु तथा अन्य विद्वान् साधु-महात्माओं के मुख से भगवद्भक्ति का माहात्म्य तथा उसके पवित्रकारी प्रभाव की बात सुनकर धीरे धीरे उन भाइयों के अन्तर का संकोच दूर हुआ। वे सबके साथ मिलजुलकर उस पुण्यक्षेत्र में भगवद्भजन करते हुए परमानन्द के साथ दिन बिताने लगे। श्री रूप को अत्युच्च पात्र समझकर चैतन्यदेव ने उन पर विशेष कृपा की। अपने जीवन में अनुभूत तथा रामानन्द राय से श्रुत भक्ति के श्रेष्ठ तत्त्वों तथा उनके साध्य-साधन का रहस्य उन्होंने रूप को बताया। महाप्रभु के उपदेशानुसार साधन-भजन में अग्रसर होकर उन्हें दिन पर दिन भगवान की विशेष कृपा का अनुभव होने लगा।

प्रयाग के मेले में भारत के सभी सम्प्रदायों के साधु-संत एकत्र हुआ करते हैं। चार मूल वैष्णव[२] सम्प्रदायों के अन्तर्गत आनेवाले विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्य श्रीमत् वल्लभ, भट्ट भी मेले के उपलक्ष्य में उस बार प्रयाग में निवास कर रहे थे। लोगों के मुख से असाधारण प्रभावशाली सन्यासी श्रीमत् कृष्णचैतन्य भारती और उनकी अलौकिक भावभक्ति की बातें सुनकर एक दिन वे उनसे भेंट करने को आये। दोनों के बीच भगवच्चर्चा आरम्भ हुई। संन्यासी के मुख से सहज सरल भाषा में उच्चतत्त्व की बातें सुनकर तथा उनका अभूतपूर्व भावभक्ति देखकर भट्ट का मन मुग्ध हो गया। वे काफी देर तक वहाँ रहकर सत्प्रसंग करते रहे। चैतन्यदेव के सहचर – रूप और अनुपम की दीनता तथा उनका भक्तिभावपूर्ण उज्ज्वल मुखमण्डल देखकर भट्टजी के मन में कुतूहल जागा और उन्होंने उन लोगों का परिचय पूछा। चैतन्यदेव ने जब दोनों भाइयों का पूर्वपरिचय देते हुए उनके अपूर्व त्याग-तितिक्षा और भक्ति-विश्वास की बातें कहीं, तो भट्टजी के विस्मय की सीमा न रही। परिचय के बाद दोनों भाइयों ने अपनी स्वाभाविक दीनता के साथ दूर से ही अतीव श्रद्धापूर्वक जब भट्टजी को प्रणाम किया तो वे उनका आलिंगन करने के लिए दोनों हाथ बढ़ाकर अग्रसर हुए। परन्तु दोनों भाई संकोचपूर्वक और भी पीछे हटकर हाथ जोड़ विनीत्र स्वर में बोले, "हम अस्पृश्य पामर हैं, हमें स्पर्श न करें।"

विष्णु-स्वामी सम्प्रदाय बड़ा आचार-विचार मानता है और उक्त सम्प्रदाय के गोस्वामीगण अपनी पवित्रता और स्वातंत्र्य रक्षा के लिए सर्वदा सतर्क रहते हैं। इसीलिए चैतन्यदेव भी भट्टजी को

२. वे चार वैष्णव सम्प्रदाय हैं– रामानुजी, निम्बार्क, विष्णुस्वामी और माधव।

सम्बोधित करके बोले, "आप एक ज्येष्ठ कुलीन वैदिक याज्ञिक ब्राह्मण हैं और ये लोग अति हीन जाति के हैं, अतः आप इनका स्पर्श न करें।" ततापि भट्टजी ने आगे बढ़कर उन्हें प्रेमालिंगन में बद्ध कर लिया और चैतन्यदेव की ओर देखते हुए वे भागवत का एक श्लोक[३] सुनाने लगे।

परिचय और वार्तालाप के पश्चात् बल्लभाचार्य के मन में संन्यासी के प्रति बड़ा अनुराग उत्पन्न हुआ। वे संगियों के साथ चैतन्यदेव को निमन्त्रण देकर एक दिन यमुना के उस पार अपने निवास स्थान पर ले गये। नयी जगह में आकर महाप्रभु के चित्त में भी बड़े हर्ष का संचार हुआ। उत्फुल्ल हृदय से उनके यमुना में स्नान करके बाहर निकलने पर भट्टजी ने उन्हें नवीन गैरिक वस्त्र पहनाए। तत्पश्चात् उन्होंने संन्यासी को नारायण-ज्ञान से माल्य-चन्दनादि से भूषित किया और धूप-दीपादि से अर्चना करके उन्हें भिक्षा प्रदान की। अलौकिक संन्यासी के आगमन की वार्ता द्रुतगति से प्रचारित हो जाने से, वहाँ चारों से दर्शनार्थी आने लगे और क्रमशः बड़ी भीड़ एकत्र हो गयी।

पास में ही रघुपति उपाध्याय नाम के एक तिरहुतनिवासी शास्त्रज्ञ, कवि और कृष्णभक्त मैथिली ब्राह्मण निवास करते थे। वे भी संन्यासी का दर्शन करने आये। विद्वान ब्राह्मण ने शास्त्रविधि तथा प्रचलित प्रथा के अनुसार संन्यासी का 'ॐ नमो नारायणाय' कहकर अभिवादन किया। परन्तु ये संन्यासी प्रचलित रीति का

---

३. अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥
– हे प्रभो ! जिसकी जिह्वा के अग्रभाग पर तुम्हारा नाम विद्यमान है, वह चाण्डाल भी पूजनीय है। जो लोग तुम्हारे नाम का उच्चारण करते रहते हैं, वे ही प्रकृत रूप से तपस्या, यज्ञ, तीर्थ तथा वेदाध्ययन करते है और वे ही सच्चे आर्य हैं। (भागवत ३/३३/७)

पालन नहीं करते थे। कविवर पण्डित को कृष्णभक्त समझकर उन्होंने अभिवादन के उत्तर में 'नमो नारायणाय' के स्थान पर 'कृष्णे मतिरस्तु' कहकर आशीर्वाद दिया। इससे भक्तकवि को अतीव आनन्द हुआ। दोनों के बीच काफी देर तक भगवत्-विषयक वार्तालाप होता रहा। संन्यासी के मुख से सरल सहज भाषा में भक्ति और भगवत्तत्व के अति निगूढ़ रहस्यों की बातें सुनकर पण्डितजी के विस्मय की सीमा न रही। चैतन्यदेव भी ब्राह्मण के कवित्व की ख्याति और कृष्णभक्ति के बारे में अवगत होकर, उनके मुख से श्रीकृष्ण के बारे में कुछ सुनने के लिए बारम्बार आग्रह करने लगे। इस पर रघुपति उपाध्याय ने दो श्लोक सुनाये। इन सुमधुर श्लोकों के कवित्वरस तथा भक्तिभाव से चैतन्यदेव के अन्तर में प्रेमावेश का संचार हुआ और उन्हें बाह्य जगत् विस्मृत हो गया। भावावस्था में उनके देह की उज्ज्वल कान्ति और उसमें अभिव्यक्त सात्त्विक विकार देखकर सभी विस्मृत हुए। उपाध्याय विस्मयविभोर होकर बारम्बार उन्हें प्रणाम तथा उनकी स्तुति करने लगे। बल्लभ भट्ट भी तथा उनके दोनों पुत्र भी चकित होकर उनके अलौकिक मुखमण्डल का अवलोकन करते हुए भक्तिपूर्वक उनके चरणों में प्रणत हुए। थोड़ी देर बाद भाव का उपशम हो जाने पर चैतन्यदेव ने उपाध्याय को प्रेमालिंगन में बद्ध कर लिया और ब्राह्मण भी स्वयं को कृतार्थ मानकर आनन्द में नृत्य करने लगे।

इधर आगन्तुक जनमण्डली संन्यासी का दर्शन तथा उनकी कृपा पाने को व्यग्र हो उठी। फिर अनेक ब्राह्मण उन्हें भिक्षा देने को आग्रह तथा अनुनय-विनय करने लगे। इस पर वल्लभाचार्य बड़े चिन्तित हुए कि कहीं चैतन्यदेव को कोई कष्ट या असुविधा न हो। वे सबको मना करते हुए बोले, "यहाँ पर निमन्त्रण देना

नहीं चलेगा। यदि किसी को नितान्त आग्रह हो तो वह प्रयाग जाकर निमन्त्रित करके ले आवे। यहाँ इनका रहना सम्भव नहीं है, मैं अभी इन्हें ले जाकर प्रयाग छोड़ आऊँगा।" चैतन्यदेव ने अपनी मधुर वाणी से सबको सन्तुष्ट किया और उन्हें सद्भावपूर्वक जीवनयापन, भगवान का चिन्तन तथा नाम-संकीर्तन करने का उपदेश देकर विदा ली। भट्टजी ने लोगों की भीड़ को ठेलते हुए बड़ी सावधानीपूर्वक महाप्रभु को नाव में चढ़ाया और प्रयाग में उनके निवासस्थान तक पहुँचाकर निश्चिन्त हुए। प्रयाग में दिन-पर-दिन उनके दर्शनार्थियों की संख्या बढ़ने लगी। जिज्ञासुओं को वे कभीं निराश नहीं करते थे; किसी को रिक्त भाव से लौटा नहीं देते थे। भगवान की महिमा गाकर, भगवत्तत्त्व सुनाकर और उनके नामगुण-कीर्तन के सहज सुखकर प्रणाली का उपदेश देकर वे लोगों को त्रितापज्वाला से शीतल होने का, भवकारागार से मुक्त होने का सुगम पथ दिखला देते थे।

क्रमशः भक्तों की संख्या और भी बढ़ती गयी, अतः वे उस स्थान को छोड़कर दशाश्वमेध घाट पर स्थित एक अपेक्षाकृत निर्जन स्थान में चले गये। श्री रूप और अनुपम भी उनके साथ गये और वह निर्जन स्थान बड़ा अनुकूल होने के कारण वे उन दोनों – विशेषकर रूप को शिक्षा देने लगे। वहाँ पर प्रभु ने उन्हें कृष्णतत्व, भक्तितत्व, रसतत्व आदि भागवत के सिद्धान्तों का मर्म समझाया। इसके अतिरिक्त उन्होंने रामानन्द राय से जो कुछ सुना था, वह भी रूप को बताते हुए उनके हृदय में शक्ति का संचार किया। इस प्रकार सर्वतत्त्वों का निरूपण करने उन्होंने रूप को (समस्त वैष्णव शास्त्रों में) पारंगत कर दिया। (क्रमशः)

कूर्म-चरित

स्वामी प्रेमेशानन्द

(श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में अनेक अवतारों पर चर्चा हुई है। इनमें परशुराम, बुद्ध आदि के व्यक्तित्व ऐतिहासिक हैं और इनके जीवन से हिन्दू समाज के उत्थान-पतन के इतिहास विषयक स्पष्ट संकेत मिलते हैं। इन महान कथाओं से प्राप्त होनेवाला आनन्द तथा शिक्षाएँ, इनकी ऐतिहासिकता पर निर्भर नहीं करतीं। रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी ब्रह्मलीन स्वामी प्रेमेशानन्दजी ने अपनी सुललित बँगला भाषा में इन कथाओं को 'दशावतार-चरित' नाम से प्रकाशित कराया था, वहीं से हम इनका अनुवाद क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। -स.)

क्षितिरतिविपुलतरे तव तिष्ठति पृष्ठे
धरणिधरणकिणचक्रगरिष्ठे
केशव धृतकच्छपरूप -
जय जगदीश हरे ॥

— १ —

स्वर्ग के ऐश्वर्य का भोग करके एक बार देवताओं के मन में बड़ा गर्व हुआ। भोग-विलास में मत्त होकर उन लोगों नें सर्व प्रकार की तपस्याओं का परित्याग कर दिया। क्रमशः आलस्य और उसके फलस्वरूप शरीर-मन की दुर्बलताओं ने प्रगट होकर देवताओं का तेज नष्ट कर दिया। बच रहा केवल उनके पूर्व गौरव का दम्भ, और कौन बड़ा है तथा कौन छोटा – यही लेकर उनके बीच निरन्तर कलह होने लगा।

दूसरी ओर पातालवासी असुरों के उद्यम का अन्त न था। शास्त्रपाठ, दान, ध्यान, कला, वाणिज्य, कृषि आदि समस्त कार्यों में उनका समान उत्साह था। देखते ही देखते वे लोग महा शक्तिमान हो उठे। देवताओं की दुर्बलता उनकी दृष्टि में आयी।

एक दिन दाम्भिक देवताओं ने पाया कि असंख्य असुर सेना ने उनके स्वर्ग पर आक्रमण कर दिया है। जिन दिनों वे भोग तथा आपसी कलह में व्यस्त थे, उसी अवधि में असुरगण धन-जन तथा विद्या-बुद्धि में उनसे आगे निकल गये थे। वैसे देवताओं ने बड़े जोर-शोर के साथ युद्ध आरम्भ किया और अकाट्य युक्तियों के साथ आपस में चर्चा करने लगे कि उनके वाणों से असुरों का ध्वंश होने में अधिक समय नहीं लगेगा। परन्तु परिणाम कुछ और ही हुआ। देवताओं के वाण चाहे जितने भी तीक्ष्ण क्यों न रहे हों, परन्तु उन्हें चलाने के लिए जिस शक्ति की आवश्यकता थी, उसका देवशरीर में अभाव था। इधर असुरों का शरीर वज्रवत दृढ़ था। वे शारीरिक कष्ट तथा मृत्युभय की परवाह न करते हुए दल के दल देवसैन्य के भीतर प्रवेश करने लगे। उनकी 'मारो-मारो', 'काटो-काटो' की आवाज, भीषण हुँकार तथा आत्मरक्षा का प्रयास किये बिना, दोनों हाथों से उन्हें निर्भयतापूर्वक तलवार चलाते देखकर देवताओं में महान आतंक फैल गया। देवतागण दैत्यों का तेज सहन नहीं कर सके और परास्त होने के बाद स्वर्ग छोड़कर भाग गये। असुरों ने स्वर्ग के राज्य पर अधिकार कर लिया।

असुरों का प्रहार ऐसा भयंकर था कि उनके अस्त्रों का आघात सहकर बचे रहने की अपेक्षा मृत्यु कहीं अधिक सुखकर होती। देवता अपना क्षत-विक्षत शरीर लेकर जिससे जहाँ भी हो सका स्वर्ग-मर्त्य-पाताल के गिरि-गुफा आदि में अत्यन्त कष्टपूर्वक छिपे रहे। संयोगवश किसी किसी को असुरों की निगाह में आकर और भी कठोर अपमान तथा प्रहार सहना पड़ा। देवताओं के उद्धार का कोई भी उपाय नहीं बचा। चिरकाल तक असुरों के हाथ अपमानित होने तथा चोट सहते हुए जीवित रहने के

अतिरिक्त देवताओं के लिए दूसरा मार्ग ही क्या था ? अहंकार और आलस्य का फल कितना विषमय होता है।

– २ –

प्रजापति ब्रह्मा देवताओं के दुख से बड़े ही व्यथित हुए। असुरगण चाहे जितने भी अच्छे कार्य, दान-ध्यान आदि करते रहे हों, पर उनका उद्देश्य नाम-यश तथा इहलोक का भोग करना था। नाम-यश तथा भोग के लिए ये लोग सब कुछ करने को प्रस्तुत थे, परन्तु भगवान या धर्म की ओर उनका बिल्कुल भी आकर्षण न था। जो थोड़ा-बहुत धर्म उनमें दीख पड़ता था, वह भी केवल स्वार्थ साधन का उपाय मात्र था। वे लोग भगवान को नहीं, अपितु भगवान से सुख-सुविधा चाहते थे। और देवतागण सामयिक दुर्बलता के चलते दाम्भिक हो जाने पर भी भगवान से प्रेम करते थे, धर्म के लिए ही धर्म की साधना करते थे। बीच बीच में उनके मन में भोग की कामनाओं के प्रबल हो जाने से उनमें विविध प्रकार की दुर्बलताएँ आ जाती थीं, तथापि उनका मूल स्वभाव अच्छा था।

असुरगण स्वर्ग के शासक होकर आसुरी विधान के अनुसार ही वहाँ का शासन चलाने लगे। धार्मिक और ज्ञानी लोगों का अब कोई मान नहीं रहा। धनबल, देहबल तथा बाह्य सौंदर्य की महिमा अत्यन्त बढ़ गयी। विचार करना शौक मात्र रह गया; खाना-पीना और मौज करना ही सभ्यता हुई; हड़बड़ी, शोरगुल तथा दिखावे से देश उन्मत्त हो उठा। स्वार्थ के लिए झूठ का आश्रय लेना नित्यकर्म हुआ। संसार में घोर आसक्ति के फलस्वरूप मनुष्य का मन वासना की अग्नि में दग्ध होने लगा।

प्रजापति ने काफी प्रयास करके देवराज इन्द्र को ढूँढ निकाला और उन्हें लेकर वैकुण्ठपति श्री हरि के सम्मुख उपस्थित

हुए। वैसे तो श्री हरि के लिए भूत-भविष्य-वर्तमान कुछ भी अज्ञात न था। देवताओं की दुर्दशा, असुरों का स्वर्ग-विजय आदि सब कुछ उन्हें विदित था, तथापि ब्रह्मा एवं इन्द्र के उन्हें प्रणाम करने के पश्चात् बैठने पर उन्होंने उनकी कुशलता पूछी। इन्द्र लज्जा के कारण अपना सिर ही नहीं उठा पा रहे थे; ब्रह्मा ने ही सारी बातें श्री हरि से निवेदित कीं।

श्री हरि ने देवताओं के कष्ट में सहानुभूति दिखायी और कहा कि उन्हें और भी पहले सूचित करने से अच्छा होता। विभिन्न बातें कहकर उन्होंने इन्द्र को उत्साहित किया। वे बोले, "देवराज, इस जीवन में उत्थान-पतन तो लगा ही रहता है। जय हो अथवा पराजय, पर देहधारी के लिए कर्म के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं। कर्मों के फल से ही देवताओं की दुर्दशा हुई है और कर्म ही दैत्यों के उत्थान का भी कारण है। कर्म के द्वारा ही कर्म का क्षय करना होगा। परन्तु जैसे-तैसे कर्म करने ही काम नहीं होगा, सत्परामर्श की भी आवश्यकता है। तुम लोग जो मेरी सलाह लेने आये हो, इसी में देवताओं के उत्थान का बीज निहित है। जो ठीक ढंग से कार्य करना चाहता है, उसे सच्चे आदमी के परामर्श के अनुसार ही चलना पड़ता है। जब तुम मेरे पास आये हो, तो समझ लेना कि अब तुम्हारे संकट के दिन बीत चुके। मैं सर्वदा अपने शरणागतों की रक्षा करता रहा हूँ।"

"मैं कर्मफल का दाता हूँ, असुरों ने जो कार्य किया है उसके फलभोग को रोकने की क्षमता किसी में नहीं है तुम लोगों को अब कठोर परिश्रम के द्वारा उन लोगों के कर्म को पराजित करना होगा। इस समय युद्ध के द्वारा दैत्यों पर विजय प्राप्त करने की क्षमता देवताओं में नहीं है। अतः तुम जाकर उन लोगों के साथ सन्धि कर लो। देव और असुर मिलकर क्षीरसागर का मन्थन करो, उससे अमृत निकलेगा; अमृत का पान करके तुम

लोग अमर हो जाओगे, अनन्त तेज प्राप्त करोगे और तुममें दैत्यों पर विजय प्राप्त करने की क्षमता आ जाएगी।"

परन्तु यह कार्य आसान नहीं था। पहले तो पराजित होकर भागे हुए इन्द्र को दैत्यराज से सन्धि की भिक्षा माँगनी थी, तदुपरान्त एक समुद्र का मन्थन करना था और फिर अमृत मिलने पर असुरों को भी तो उनका हिस्सा देना होगा। असुरों के अमृत पीकर अमर हो जाने से तो देवताओं की सारी आशा ही धूल में मिल जाती। परन्तु श्री भगवान की वाणी पर इन्द्र का ऐसा विश्वास था कि उनके मन में किसी भी प्रकार के सन्देह का उदय नहीं हुआ। इसी को कहते हैं देवहृदय। इन्द्र जानते थे कि श्री विष्णु से बढ़कर उनका हितैषी दूसरा कोई नहीं है। सच्चे भक्त का यही लक्षण है।

– ३ -

देवराज के सिंहासन पर बैठकर असुरराज तीनों लोकों पर शासन कर रहे थे। आज देवेन्द्र राज्यहीन, मानहीन तथा अस्त्रहीन होकर दैत्यराज के सम्मुख सन्धि के प्रार्थी थे। इन्द्र की अपूर्व मुखकान्ति, उज्ज्वल वर्ण तथा निर्भीक पदक्षेप देखकर द्वारपालों ने ससम्मान उनका मार्ग छोड़ दिया। इन्द्र ने सभा में प्रवेश किया और दैत्यराज के प्रति राजोचित सम्मान दिखाते हुए अपना परिचय दिया।

दैत्यगण अब तक ईर्ष्यापरायण होकर देवताओं तथा विशेषकर इन्द्र को दूर से ही देखते आये थे। परन्तु आज उनके बीच आकर इन्द्र ने अपनी अपूर्व अंगकान्ति से दैत्यसभा को म्लान कर दिया था। दैत्यगण सचमुच ही चकित होकर उनकी ओर आदर के साथ देखने लगे। उन्हें ऐसा लगा कि वस्तुतः यही व्यक्ति इस सिंहासन पर ठीक ठीक जँचेगा। दैत्यराज भी

चिरकाल से ही जिन इन्द्र को श्रेष्ठ मानते आये थे, पाताल में रहकर भी जिन इन्द्र के स्वर्गभोग को अपने स्वप्नराज्य की कल्पना के रूप में सोचते थे, आज वे ही इन्द्र विनीत भाव से उनके सिंहासन के नीचे खड़े थे । वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये । इस निस्तब्धता को भंग करते हुए इन्द्र बोले –

"दैत्यराज, ईर्ष्या के कारण हम काफी समय से शत्रुता करते आये हैं तथापि दैत्य और आदित्य एक ही पिता के सन्तान हैं । स्वर्ग के सिंहासन पर आपका और मेरा समान अधिकार है । दैव-दैत्यों के आप भी भाई हैं और मैं भी भाई हूँ । भाई भाई के बीच आपसी कलह, सिंहासन को लेकर छीना-झपटी – यह सब बड़े ही लज्जा की बात है । घर में झगड़ा हो तो बाहरी शत्रु का बल बढ़ता है । यदि मिलकर रहें तो हम कश्यप-सन्तानों के लिए पितृगौरव की रक्षा करना कठिन नहीं है । मैं अब सिंहासन के लिए लालायित नहीं हूँ । दैत्यों तथा देवताओं के कल्याण हेतु इस घृणित भ्रातृकलह के निवारणार्थ मैं आपके पास सन्धि की प्रार्थना लेकर उपस्थित हुआ हूँ ।"

गंवार और मूर्ख लोग मीठी बातों से सहज ही वश में आ जाते हैं । विशेषकर यदि कोई उनकी शरण ले, तो वे सचमुच ही पिघल जाते हैं । इन्द्र की इस मधुर प्रेमपूर्ण भाषा को सुनकर असुरगण बिलकुल ही पिघल गये । दैत्यपति ने इन्द्र को अपने सिंहासन के बगल में बैठाकर उनके प्रति सम्मान दिखाया ।

इन्द्र ने कहा, "मैं वैकुण्ठ में नारायण के पास गया था । उन्होंने सलाह दी कि हम भाई भाई आपसी विवाद त्याग एक साथ मिलकर क्षीरसागर का मन्थन करें । मन्थन से अमृत का उद्भव होगा और अमृत का गुण सर्वविदित ही है ।"

दैत्यराज यह अद्‌भुत प्रस्ताव सुनकर आनन्द से उन्मत्त हो उठे । सभा में उपस्थित दैत्यगण अमृत का नाम सुनते ही हो-हल्ला करने लगे । असुर नेताओं ने बड़ी कठिनाई से उन्हें शान्त किया । सभी लोग सन्धि की बात पर सहमत हुए । इन्द्र को ही समुद्र-मन्थन का नेतृत्व सौंप दिया गया । इन्द्र सभी चीजों की व्यवस्था करने चले गए ।

– ४ –

सुरपति ने काफी ढूँढ़-तलाश कर समस्त देवताओं को एकत्र किया । श्री विष्णु की सलाह पर उन्होंने जो कुछ भी किया था, सभा में उन्होंने देवताओं के समक्ष सब कह सुनाया और समुद्र-मन्थन के बारे में उनके सुझाव माँगे । देवतागण मन्थन के लिए दण्ड तथा रस्सी की खोज में निकल पड़े । जगत् के समस्त पर्वतों से मन्थन दण्ड होने का अनुरोध किया गया, परन्तु किसी ने भी इस गुरु कार्य में भाग लेने का साहस नहीं दिखाया । अखिरकार पाषाणकाय मन्दरगिरि ने इस कार्य के लिए अपनी स्वीकृति प्रदान की । सर्प तथा नागों में वासुकी ही अमृत के लोभ में जीवन को दाँव पर लगाकर मन्थन-रज्जु बनने को तैयार हुए ।

एक शुभ दिन देव तथा असुरों की सेना ने महा उत्साह के साथ मन्दरगिरि को उखाड़ा और उसे क्षीरसागर की ओर ले चले । परन्तु हाय ! कुछ दूर जाते ही वे लोग इतने थक गए कि सबके मन में सन्देह उठा कि क्या इस पर्वत को सागर तक ले जाना सम्भव हो सकेगा ? लज्जा से देवेन्द्र का मुख बिल्कुल ही उतर गया । देवतागण कातर होकर श्री हरि का स्मरण करने लगे । सहसा आकाश में एक विशाल मेघखण्ड के समान गरुड़ का आविर्भाव हुआ । उनके ऊपर रविरश्मियों से भी उज्ज्वल अपने

आलोक से जगत् को उद्भासित करते हुए जगन्नाथ श्री हरि विराजमान थे। देवगण हर्षपूर्वक जयजयकार करने लगे।

इस जयध्वनि से असुरों का हृदय सदा-सर्वदा कम्पित होता रहा है। आज इस असह्य उज्ज्वल ज्योति से उनके नेत्र अन्धे हो रहे थे और ऊपर से जयध्वनि सुनकर वे अत्यन्त भयभीत होकर पलायन करने लगे। देवताओं ने बड़ी कठिनाई से उन्हें समझा-बुझाकर लौटाया। असुरों को भयभीत देखकर नारायण ने अपना तेज संवरण किया और प्रसन्नमुख से सबको आश्वस्त करने लगे। उन लोगों को पर्वत वहन करने में असमर्थ देखकर नारायण ने एक साधारण से मिट्टी के ढेले के समान उसे अपने हाथ से उठाकर गरुड़ की पीठ पर रख दिया। गरुड़ उसे ले जाकर समुद्र के बीच में रख आए। श्री हरि के चिरभक्त देवगण तथा स्वार्थ के भक्त असुरगण उनके मधुर स्वभाव तथा मनोहर रूप को देखकर आनन्दित हुए। कोई विपत्ति पड़ने पर अपना स्मरण करने को कहकर वे अन्तर्धान हो गए।

अमृतपान के लोभ में नाग वासुकी ने रस्सी के समान मन्दरगिरि को लपेट लिया और एक तरफ पूँछ तथा दूसरी ओर सिर बढ़ा दिया। और इसी बात को लेकर विवाद आरम्भ हुआ कि किस दल के लोगं पूँछ पकड़कर खीचेंगे और किस दल के लोग सिर पकड़कर। देवताओं ने कहा, "हम ज्येष्ठ हैं, अतः हम साँप को सिर की ओर से पकड़ेंगे।" परन्तु दैत्यगण विजयी हुए थे, अतः वे लोग पूँछ पकड़ने को तैयार न थे। इस पर बुद्धिमान इन्द्र असुरों का दावा मानकर वासुकी का पूँछ पकड़ने चले गए। विवाद सहज ही दूर हो गया। अहंकार के फलस्वरूप असुरों का पतन आरम्भ हो गया है, यह जानकर इन्द्र मन ही मन प्रमुदित हुए। 'हरि हरि' की महाध्वनि के साथ अतीव उत्साहपूर्वक मन्थन आरम्भ हुआ।

– ५ –

थोड़ी सी खींचातानी करते ही वासुकी गहरी साँस छोड़ने लगे और उनके विषाक्त निःश्वास से असुरगण दग्ध होने लगे। उन्होंने अहंकार के वशीभूत होकर स्वयं ही वासुकी का सिर पकड़ा था – अतः उनके लिए देवताओं के प्रति शिकायत व्यक्त करने का कोई मौका न था; फलतः उनका आपस में ही कलह आरम्भ हुआ। परन्तु देवताओं के सामने यह प्रकट हो जाने पर लज्जा की बात होती, अतः उन्हें चुपचाप यह कष्ट सहन करना पड़ा।

इधर एक और विपत्ति आ खड़ी हुई। मन्दराचल घूमते घूमते सागरतल के कीचड़ में धँसने लगा। देवताओं के इन्जीनियर विश्वकर्मा ने बहुत बुद्धि लगाई, परन्तु सागर के गहरे कीचड़ में इस गुरुभार पर्वत को ऊपर उठाए रखना सम्भव नहीं हो सका। लगता था कि सारा उपक्रम मिट्टी में मिल जाएगा। असहाय होकर देव-असुर पूरे मन-प्राण से श्री हरि को पुकारने लगे। भक्तवत्सल भगवान पुनः प्रकट हुए। भक्तों पर आया संकट देखकर बहुरूपी नारायण स्वयं ही मन्थन-कार्य की व्यवस्था करने लगे और बहु योजन आकार के एक विशाल कूर्म के रूप में सागरतल में प्रविष्ट होकर मन्दराचल को उन्होंने अपनी पीठ पर धारण कर लिया। देव-असुरगण उनके उसी अत्यद्भुत भक्तवत्सल रूप का चिन्तन करते हुए दुगने उत्साह के साथ पुनः मन्थन कार्य में जुट गए।

देवताओं तथा असुरों की मिलित शक्ति से वह विशाल पर्वत कुर्मावतार की पीठ पर तीव्र वेग के साथ घूमने लगा। जल-आलोड़न की प्रचण्ड ध्वनि से ब्रह्माण्ड के समस्त जीव

स्तम्भित रह गए, आकाश में द्रुत वेग से चल रहे ग्रह थर थर काँपने लगे और देवों-असुरों के कान मानो फटने लगे।

सहसा एक तीव्र गन्ध उठा, जिससे देवासुरों का सिर चकराने लगा। देखते ही देखते समुद्र के जल पर एक अत्यन्त काला पदार्थ उतराने लगा और उसकी काली आभा से सम्पूर्ण जगत् स्याह हो गया। इस तीव्र गन्ध से प्रायः सभी लोग मूर्छित हो गए। श्री हरि ने देवराज से कहा, "इन्द्र, तुम तुरन्त कैलास जाओ। कैलासपति महायोगी शिव के अतिरिक्त और किसी में भी इस कालकूट विष को पीने की क्षमता नहीं है।" इन्द्र ने तत्काल ही प्रस्थान किया।

कैलासपति बिल्ववृक्ष के नीचे योगासन में बैठे समाधिमग्न थे। महामाया उनकी सेवा की व्यवस्था में लगी हुई थीं। इन्द्र ने जगदम्बा के चरणों में प्रणाम किया और उन्हें सारी बातें कह सुनाई। करुणामयी गौरी ने महादेव के कानों में ॐकार ध्वनि करके उनकी समाधि को भंग किया। देवताओं के संकट की बात सुनकर आशुतोष शिव ने हल्की सी मुस्कान के साथ इन्द्र को आश्वस्त किया और बैल पर सवार होकर क्षीरसागर की ओर चल पड़े।

कालकूट विष समुद्र के जल में मक्खन की भाँति तैर रहा था। शंकरजी वहाँ पहुँचे और प्रसन्नवदन उसे पी लिया। जगत शीतल हुआ। देवताओं को होश आने लगा। भोलानाथ श्री हरि का दर्शन करके आनन्दविभोर हो उठे और हर्षातिरेक में डमरू बजाते हुए 'बम बम' की ध्वनि के साथ नृत्य करने लगे। तीव्र कालकूट विष का पान करने से उनका कोई अनिष्ट नहीं हुआ; बस विष के ताप से उनका कण्ठ नीला हो गया। तभी से उनका नाम 'नीलकण्ठ' पड़ा। शिवजी ने देव-असुरों को आशीर्वाद देकर

बैल की सवारी करते हुए अपने कैलासधाम की यात्रा की। मन्थन का कार्य पुनः आरम्भ हुआ।

– ६ –

श्री हरि सबको खूब उत्साहित करने लगे। सहसा जलराशि का भेदन करते हुए सुरभि नाम की एक अद्भुत गाय बाहर निकल आई। उस गाय में ऐसी आश्चर्यजनक क्षमता थी कि वह बिना बछड़े के ही दूध देती थी। और वह थोड़ा-बहुत दूध नहीं देती थी, उसे दूहकर चाहे जितना दूध लिया जा सकता था। श्री विष्णु की सलाह पर उसे उसे यज्ञकर्ता ऋषियों को दान कर दिया गया।

सुरभि के बाद एक एक कर ऐरावत नाम का एक विशाल तथा सुन्दर श्वेत हाथी, उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा आदि अनेक वस्तुएँ सागर से निकलने लगीं। नारायण ने प्रायः वे सभी इन्द्र को दे दीं। तदुपरान्त चारों दिशाओं को आलोकित करते हुए कौस्तुभ नाम की एक विशाल मणि निकली। नारायण ने उसे अपने गले में धारण कर लिया।

इसके बाद मन्थन के वेग से एक परम सुन्दरी युवती समुद्र के जल पर उतराने लगी। देव-असुरगण मुग्ध होकर उसकी ओर देखने लगे। देवी ने जल से बाहर आकर एक अम्लान पंकजमाला विष्णु के गले में पहनाकर उन्हें पति के रूप में वरण किया।

असुरगण विष्णु के भय से यह सब अन्याय देखकर भी चुप रह गए। सम्भवतः उन लोगों ने सोचा, 'विष्णु सर्वदा हम लोगों के साथ तो रहेंगे नहीं, अतः बाद में देवताओं के यह सब छीन लेना बड़ा ही सहज कार्य है। इस समय झंझट खड़ा करने पर

अमृत प्राप्ति में बाधा पड़ सकती है। एक बार अमृत पा लिया जाय, उसके बाद देखा जाएगा।"

वैसे असुरों का इन सब में से आधी वस्तुओं पर दावा न्यायसंगत था। परन्तु यह सब पा लेने पर, वे और भी अत्याचारी हो उठते, जगत् का और भी अनिष्ट करते। उन लोगों का यह सब न पाना क्या अच्छा नहीं हुआ ?

दिन पर दिन, महीने पर महीना समुद्रमन्थन चलता रहा। उस विशाल पर्वत को लेकर खींचातानी करते करते देव-असुर ऐसे थक गए कि अब उनके हाथ ही नहीं चलते थे, शरीर शिथिल हो गया और सिर चकराने लगा। विशेषकर वासुकी तो खून की उल्टी करते करते बिल्कुल अचेत व मृतप्राय हो गए। असुरगण भी वासुकी के विषाक्त श्वास तथा मन्थन से प्राप्त वस्तुओं में हिस्सा न पाने के कारण अत्यन्त निरुत्साह हो गए थे। अब वे पूरी तौर से हताश होकर देवताओं के ऊपर नाराजगी प्रकट करने लगे। कहने लगे, "देवताओं का उद्देश्य कुछ अच्छा नहीं दिख पड़ता। लगता है उनके मन में कोई गहरा षडयंत्र है।" इसी प्रकार उनके बीच तरह तरह की कानाफूसी होने लगी।

उसी समय अत्यन्त शीतल और सुगन्धित वायु चलने लगी। सबका शरीर नवीन बल तथा नवीन उत्साह से चेतनामय हो उठा, अकारण ही आनन्द से रोमांच होने लगा। देखते ही देखते एक शीतल ज्योति के फैल जाने से दिन की रौशनी म्लान हो गई। लगता था मानो स्वर्ग से भी महान तथा आनन्दमय किसी लोक का वैभव प्रकट हुआ हो। देव-असुरगण आनन्दविभोर होकर अनजाने ही एक सुर में जयध्वनि कर उठे। उन्हें समझते देर न लगी कि उनके समस्त श्रम को सार्थक करते हुए अमृत प्रकट हो गया है।

एक स्वर्ण कलश हाथ में लिए एक ज्योतिर्मय पुरुष बाहर निकले। उनके नेत्र-मुख की भाव-भंगिमा अपूर्व थी ! तरुण आयुवाले वे अमृतकुम्भ वहन करने के लिए उपयुक्त व्यक्ति थे। देवताओं ने उन्हें 'धन्वन्तरि' नाम दिया।

– ७ –

धन्वन्तरि के बाहर आते ही असुरों ने अमृत के लोभ में उन्मत्त होकर उनके हाथ से कलश छीन लिया। देवताओं ने इस पर नाराज होकर असुरों पर आक्रमण कर दिया। परन्तु नारायण का संकेत पाकर वे शान्त हो गए। अब असुरगण आपस में ही भयंकर लड़ाई करने लगे। हर कोई सबसे पहले अमृत पीने को उद्विग्न था। दैत्यों में जो बलवान थे, वे कलश पाने को जोरदार धक्कामुक्की करने लगे और बाकी शोरगुल, तर्क-वितर्क करते हुए चिल्लाने लगे। उनमें से कोई कोई धर्म की दुहाई देने लगे, जो कि निर्बल का सहारा है। वे लोग कहने लगे, "यह बड़ा ही अनुचित हो रहा है। देवताओं-असुरों ने मिलकर अमृत निकाला, अब क्या तुम लोग अकेले ही इसका पान करोगे ? देवताओं ने ही तो इसके लिए बुद्धि लगायी थी। भले ही उन लोगों ने दो हाथी-घोड़े ले लिए हैं, परन्तु इसी कारण क्या उन्हें अमृत में से हिस्सा नहीं मिलेगा ? यह बड़ा अधर्म हो रहा है, बड़ा अन्याय हो रहा है ! यही क्या भ्रातृभाव है ! छी ! छी ! छी ! धिक्कार है !"

लाखों असुर इसी प्रकार कलह में लगे हुए थे। जरा सोचो तो कैसी हालत हुई होगी उस समय ! मानो एक जीवसागर में आलोड़न हो रहा हो। परन्तु तभी मानो मन्त्र के बल सारा कोलाहल सहसा ही पूरी तौर से शान्त हो गया। आकाश में तैरते हुए एक युवती असुरों के बीच में जा पहुँची थी ! रमणी का मुख देखकर जो जहाँ था, वहीं स्तब्ध रह गया। क्या ही अद्भुत रूप

था उसका ! मानो वह सबके मन-प्राण आँखों के मार्ग से खींचकर ले जा रही थी।

वह युवती गौरवर्ण थी, अतीव सुन्दरी थी, उसके अंगों पर नाना प्रकार के मणि-मुक्ताखचित अलंकार शोभायमान हो रहे थे और उसने अत्यन्त उज्ज्वल वर्ण के वस्त्र धारण कर रखे थे। उसका कण्ठस्वर क्या ही मधुर था ! वह हँसते हुए असुरों के साथ वार्तालाप करने लगी –

"इधर से होकर गुजरते समय भयानक शोरगुल सुनकर मैं देखने चली आई कि ऐसी कौन सी बात है, जिस पर इतने सारे योद्धा लोग झगड़ रहे हैं ? क्या इसकी कोई मीमांसा नहीं हो पा रही है ?"

दैत्यों ने सुधाकलश को देवी के पास रखकर उसे विवाद का कारण बताया। इस पर वह ऐसे अट्टहास के साथ हँस पड़ी कि उससे असुरों का और यहाँ तक कि देवों का भी सीना धकधक कर काँप उठा।

देवी ने कहा, "यह तो साधारण सी बात है। इसी के लिए झगड़ा-फसाद ? चलो, मैं सब निपटा देती हूँ।" इतना कहकर उसने कलश को अपनी कमर पर उठा लिया। देवासुरगण यंत्रचालित के समान देवी के क्रियाकलाप देखने लगे। बातें करना तो दूर, उन लोगों को जोरों से साँस छोड़ने तक में संकोच का बोध होने लगा। किसी के भी मन में यह विचार नहीं उठा कि यह नारी कौन है, कहाँ से आई है, मित्र है या शत्रु है ? मंत्रमुग्ध के समान देव-असुरों ने उसकी अधीनता मान ली।

देवी बोली, "देवता और असुरगण दोनों ओर पंक्तियाँ बनाकर बैठें। मैं सबकी योग्यता के अनुसार बँटवारा कर देती हूँ।"

सुर तथा असुर पंक्तियाँ बनाकर बैठ गए। देवी ने असुरों के साथ हास-परिहास आरम्भ किया। धीरे धीरे असुर भी वाचाल हो उठे। उन लोगों ने भी देवी के साथ व्यंग-विनोद शुरू किया। देवी ने देवताओं के बीच अमृत का वितरण आरम्भ किया। परन्तु रूपमुग्ध अजितेन्द्रिय असुरगण रूप के मोह में भूले रहे। देवी का हास्यरस उन्हें अमृत से भी अधिक मधुर लग रहा था और हँसी के दौर चलते रहे, आनन्द के फुहारे छूटते रहे।

राहु नामक एक असुर बड़ा ही चतुर था। उसे भुवनमोहिनी के मनोभाव का थोड़ा आभास मिल गया था, अतः वह धीरे से देवताओं की पंक्ति में जाकर चन्द्रमा तथा सूर्य के बीच बैठ गया। उसके हाथ में अमृत पड़ते न पड़ते, चन्द्रमा तथा सूर्य ने संकेत से विष्णु को उसके बारे में बताया। विष्णु ने तत्क्षण सुदर्शन चक्र से राहु का सिर काट डाला। परन्तु इसी बीच वह झटपट अमृत को मुख में डालकर थोड़ा सा निगल चुका था। इसी कारण उसका सिर भी बच गया और धड़ भी बच गया। इस प्रकार वह असुर दो भागों में कटकर भी अमर हो गया। अमृत पी लेने के कारण वह देवताओं की एक निम्न श्रेणी नवग्रह में सम्मिलित हो गया। इसी कारण से वह अब भी बीच बीच में चन्द्र अथवा सूर्य को निगलने का प्रयास करता है और इसके फलस्वरूप ग्रहण लग जाता है।

देवताओं को देते देते ही अमृत समाप्त हो गया। मोहिनी देवी का सहसा उस ओर ध्यान जाने पर, वह चौंक उठी और अपूर्व लज्जापूर्ण भंगिमा के साथ असुरों से बोली, "अजी, बातों बातों में ही तो मैंने सब समाप्त कर डाला। तुम्हीं लोगों ने तो हास्य-विनोद में लगाकर मेरे मन को भुला दिया था। अब क्या होगा ?" उसने ऐसी करुण तथा असहाय दृष्टि से असुरों की ओर देखा कि वे लोग अमृत की बात बिल्कुल ही भूल गए।

असुरों ने सोचा – चलो, थोड़े से अमृत के लिए क्यों इसके मन को दुःख दिया जाय ? इस दृष्टि के सामने तो अमृत भी तुच्छ है और जीवन भी तुच्छ है !!

देवी ने देवताओं के समक्ष अपना प्रसन्ना, वराभयकरा मातृरूप प्रकट किया और आकाश में विलीन हो गईं। अब असुरों की तन्द्रा भंग हुई। असंयम का फल हाथो-हाथ पाकर लज्जावश उनमें से कोई भी दृष्टि उठाकर दूसरे की ओर नहीं देख सका। दीर्घकाल तक इतना कष्ट उठाने का यही फल मिला ! सामने ही अमृतपान से तृप्त तेजदृप्त देवतागण थे। पाताल में निवास, पराजय, यहाँ तक कि मृत्यु भी इस अवस्था से बल्कि हजारों गुना अच्छी थी !!

देवताओं ने उच्च स्वर में मोहिनीरूपधारी श्री हरि की मायाशक्ति की जयघोषणा की। इसकी ध्वनि से दैत्यों के हृदय को वज्र से भी अधिक चोट पहुँची। वंचित तथा अपमानित असुरों ने नाराजगी में आकर देवताओं पर धावा बोल दिया; परन्तु खेद ! उनके अच्छे दिन जा चुके थे। उनका सारा प्रयास व्यर्थ सिद्ध हुआ। असंयमी लोगों की शक्ति तथा विजय अति अल्पकालिक होती है। शीघ्र ही मृत्यु से बचे हुए मुष्टिमेय असुरों ने पाताल के अन्धकार में भागकर अपनी प्राणरक्षा की। देवराज इन्द्र ने स्वर्ग के सिंहासन पर आसीन होकर विश्व में शान्ति के साम्राज्य की स्थापना की।

श्री हरि ने, जगत् अधीश्वर होकर भी, अपने आश्रित भक्तों के कल्याणार्थ एक कूर्म का शरीर धारण किया था। उनकी उसी असीम करुणा का स्मरण करते हुए हम लोग अब भी भक्तवत्सल कूर्म के रूप में उनकी पूजा किया करते हैं।

(आगामी अंक में वराह-चरित)

रे मन ! अब तो...

'मधुप'

(मारूबिहाग-कहरवा)

रे मन, अब तो सोच-विचार
जो कुछ मिला तुझे इस जग में
सब ही तुच्छ- असार ॥ रे मन. ॥

खाते - पीते रंग रचाते
विपद पड़ी तो रोते-गाते
चले गए जो भी पाए थे
जीवन के दिन चार ॥ रे मन० ॥

पद-संपद यश रिश्ते-नाते
क्रमशः अन्तर्हित हो जाते
खिसक रहे हैं पाँव तले से
जैसे नदी- कगार ॥ रे मन० ॥

जीवन के दुर्लभ अमोल दिन
व्यर्थ गए प्रभु भक्ति-भजन बिन
रोग शोक भय जरा मृत्यु सब
आ. पहुँचे हैं द्वार ॥ रे मन० ॥

अब भी चेत समझ माया-छल
काल ग्रस रहा सब कुछ पल-पल
रह जाएगा धरा यहीं पर
तेरा घर-संसार ॥ रे मन० ॥

चित्त लगा प्रभु के चरणन में
मत प्रमाद कर स्मरण-मनन में
उनकी कृपा नाव में चढ़कर
हो जा सागर पार ॥ रे मन० ॥

आन्ध्र की सन्त मल्ला

प्रव्राजिका श्यामाप्राणा

(श्री सारदा मठ, दक्षिणेश्वर, कलकत्ता)

(मध्यकालीन भारत में अनेक सन्त नर-नारियों का जन्म हुआ था, जिन्होंने महान आचार्यों से प्रेरणा लेकर स्थानीय भाषाओं में धर्म के गूढ़ तत्वों का निरूपण किया। वर्तमान लेख में तेलुगु भाषा में रामायण की अमर रचयिता महिला-सन्त मल्ला के जीवन तथा काल का सुन्दर चित्रण हुआ है। -स०)

भारत और हिन्दू धर्म

एक विज्ञ अंग्रेज रेमजे मैकाले ने कहा है, "भारत और हिन्दू धर्म शरीर व आत्मा की नाई जुड़े हुए हैं – भारत शरीर है तो हिन्दू धर्म या अधिक उपयुक्त ढंग से कहें तो सनातन धर्म उसकी आत्मा है।" शताब्दियों की गुलामी, और यहाँ तक कि देश का विभाजन भी हमारी इस धर्मपरायणता में कमी नहीं ला सका। हिन्दू संस्कृति अमर एवं जागृत भी है। भारत के साम्राज्य इतिहास काल में बदलते रहे, सीमाएँ बढ़ती-घटती रहीं किन्तु उसकी आत्मा – उसका सनातन धर्म अटल रहा। इस धर्म का मूल सिद्धान्त रहा है – आत्मा और परमात्मा का अभिन्न सम्बन्ध। ईश्वर-दर्शन यहाँ के हर प्राणी के जीवन का लक्ष्य रहा है। कर्मयोग, ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति व प्रलय का सिद्धान्त, पुनर्जन्मवाद, काल चक्र के अन्तर्गत रहकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति – ये कुछ तथ्य हिन्दूधर्म के मूल रहे हैं। इन मूल तत्वों से सुदृढ़ हिन्दू धर्म समयानुसार अपने स्वरूप को ढालता आया है। कालान्तर में मूल तत्व वहीं रहा, केवल आवरण बदलते रहे।

इस धर्म में प्रथम महा-परिवर्तन आदि शङ्कराचार्य लाए। उन्होंने अद्वैतवाद की जड़ें जमा दी। उनके बाद रामानुजाचार्य व मध्वाचार्य आए। इन तीनों आचार्यों तथा उनके अनुयाइयों ने अद्वैत, विशिष्टद्वैत व द्वैत सिद्धान्तों को नया कलेवर देकर

प्रतिष्ठित किया; शास्त्रों की उक्तियों को, जो प्राचीन काल, में बड़ी कठिनाई से समझ में आती थीं, तत्कालीन युग की आवश्यकता के अनुरूप आलोकित किया। ये आचार्य पूरे भारतवर्ष का भ्रमण करते रहे। अपने भ्रमण काल में उन्होंने सभी वर्ग के लोगों को प्रत्साहित किया। उन्हीं के प्रोत्साहन के फलस्वरूप साधुओं व संन्यासियों ने धर्म की गूढ़ बातों को सरल ढंग से जनमानस में फैलाया।

शताब्दियों से भारत में सैकड़ों सन्तों ने जन्म लिया है। ये जाति, कुल या मान का विचार किए बिना हर प्राणी के हृदय को धर्मशिक्षा द्वारा विकसित करते आए हैं। ये सन्त समाज के सभी वर्गों व वर्णों में उत्पन्न हुए। उनमें से जो गृहस्थ थे, वे भी सांसारिक आसक्तियों से ऊपर थे। अपनी धर्मशिक्षा के लिए उन्होंने संस्कृत भाषा को नहीं अपनाया। अपने वर्तमान समाज की बोलचाल की भाषा को ही उन्होंने अपना माध्यम बनाकर प्रचार किया। इन सन्तों में बहुत से कवि भी थे। उनके द्वारा रचित कविता एवं भक्तिगीति आज भी दूर दूर के गाँवों व नगरों में बड़े उल्लासपूर्वक पढ़े व गाए जाते हैं। इन भजनों के माध्यम से भगवत्प्रेम ही प्रवाहित हुआ है। इन महान सन्तों में कुछ महिला-सन्त भी थीं।

भारतीय नारी

प्राचीनकाल से ही भारत में नारी का स्थान घर की चौखट के दायरे में ही सीमित रहा है। सीता और सावित्री को नारी जीवन का आदर्श माना गया है। पुराणों में वर्णित ये दोनों नारियाँ बलिदान, सन्तोष व पतिव्रता के भाव की प्रतिमूर्ति थीं। पतिव्रता पत्नी का आदर्श उसके मातृत्व के आदर्श में एकाकार हो गया है। भगिनी निवेदिता ने ठीक ही कहा है, "हिन्दू महिला

अपने पति की प्रेयसी और परिवार की रानी होते हुए भी बच्चों के लिए पूज्य माता है।" ऐसी महिलाओं में से कुछ महिलाएँ संसार बन्धन में न पड़कर भगवत्-साधना में अग्रसर हुईं। उनके जीवन की उपलब्धियाँ सन्तानों के लिए अमूल्य धन बन गईं। ऐसी ही महान महिला सन्तों की जीवनी से विदित होता है कि नारी भी सम्पूर्ण त्याग द्वारा दिव्य-दर्शन व ब्रह्माज्ञान को प्राप्त कर सकती है। इन उच्चकोटि महिला सन्तों में अन्यतम थीं मल्ला। इनका मूल सिद्धान्त था – जड़ पर चेतन की प्रभुता एवं उनके जीवन के आधार थे – पवित्रता, दीनता, भक्ति, संयम, आत्मविकास, निःस्वार्थ प्रेम आदि सद्‌गुण, जो साधक जीवन के आभूषण हैं। इनका स्थान भौतिक संसार व भोग विलास से कहीं ऊँचा व उत्तम है। मानवीय दुर्बलताओं को पीछे छोड़कर, दिव्य जीवन बिताना ही भारत में सर्वोपरि लक्ष्य माना गया है। यही कारण है कि आज के दुस्तर समय को देखते हुए भी भारत के भविष्य के विषय में भय का कोई स्थान नहीं रह गया है।

इतिहास व पुराणों का अध्ययन

वैदिक इतिहास व पुराणों द्वारा ब्रह्मविद्या तथा वेदान्त की वाणी जनमानस में पहुँची। वेदव्यास ने बताया है कि वैदिक तत्वों को जनमानस तक पहुँचाने के लिए ही महाभारत की रचना हुई थी। उसी प्रकार महर्षि वाल्मीकि ने भी अपने रामायण के द्वारा जनमानस को वैदिक शिक्षाएँ दी। इतिहास व पुराणों के द्वारा ही धर्मशिक्षा का विस्तार किया गया। राजर्षियों के जीवन-कथाओं द्वारा भी धर्म व सत्य के आदर्श जनसाधारण में भलीभाँति फैलाए गए। रामायण, महाभारत तथा पुराणों ने वेदों के परिपूरक का कार्य किया।

मल्ला या मल्लिका की जीवनी

मल्ला एक अति साधारण गरीब कुम्हार के घर पैदा हुई। उनके पिता केसना गोपावरम में कुम्हार का कार्य करते थे। पन्नार नदी के बाएँ किनारे पर नेलूर से कुछ मील उत्तर में गोपावरम गाँव स्थित है। आज उस गाँव का नाम पदुगुपाडु है।

मल्ला तेलुगू साहित्य की प्रथम व सर्वोत्तम कवियित्री थीं। सम्राट कृष्णदेव राव के काल में वे उन्नति के शिखर पर रहीं। उनके माता-पिता श्रीसैलम के मल्लिकार्जुन व मल्लिकाम्बा (शिव-पार्वती) के परम भक्त थे। उनकी दीक्षा वीर शैव मठ में हुई थी। अपनी सच्चाई, दान व प्रेम आदि सद्‌गुणों के कारण केसना अपने व पास के गाँवों में सुख्यात थे। इसी तरह गाँव के लोग मल्ला की माता को 'माँ' कह कर सम्बोधित करते थे – कारण वे देवी के समान सभी से स्नेह करती थी, पड़ोसियों की हर आवश्यकता पर ध्यान देती थीं और अपने घर के कामकाज के बीच में दूसरे घरों में भी जाकर हाथ बँटा आती थीं। केसना की गृहस्थी सुखमय थी, परन्तु उसकी कोई सन्तान न थी। इस हेतु उन्होंने श्रीकान्त मल्लेश्वर की आराधना की। उनकी पूजा से प्रसन्न होकर भगवान शंकर ने उन्हें वरदान दिया। केसना की पत्नी ने यथासमय १४४० ई० में एक कन्यारत्न को जन्म दिया। यह कन्या सुन्दर तथा दैवी लक्षणों से युक्त थी। इस बालिका के जन्म के पश्चात् ग्रह-नक्षत्रों की गणना के लिए ज्योतिषियों को बुलाया गया। उन दिनों बच्चों का नामकरण राशि के आधार पर किया जाता था। गणना के अनुसार देखा गया कि कन्या का जन्म गण्डयोग में हुआ है।

ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की – गण्डयोग में जन्मी कन्या की माता कुछ ही दिनों में परलोक सिधार जाएँगी। कन्या के

१२ वर्ष भारी रहेंगे, परन्तु यदि वह १२ वर्ष जीवित रह गई तो फिर वह दीर्घजीवी होगी तथा अपना नाम अमर कर जाएगी - उसकी ख्याति मल्लिका पुष्प के सुगन्ध की भाँति दूर दूर तक फैलेगी । एकादशी के दिन उसका नामकरण संस्कार किया गया और उसका नाम मल्लिका या मल्ला रखा गया । मल्ला का अर्थ मल्लिका है ।

पुत्री के जन्म के दो या तीन दिन बाद ही माता का देहान्त हो गया । केसना ने इसे ईश्वर की इच्छा मान अपने मन को समझा लिया, किन्तु गाँववालों से यह विछोह सहा न गया । कारण वह उनके लिए माता, बन्धु, सखा सभी कुछ थी । फिर किया भी क्या जा सकता था ? पड़ोस की महिलाओं ने नवजात शिशु के पालन का भार ले लिया । केसना पूर्ववत अपनी दिनचर्या में तल्लीन हो गए । मन ही मन उन्होंने अपनी पुत्री भगवान विश्वेश्वर (शिव) को सौंप दी और प्यार से उसे वैशिवि के नाम से पुकारने लगे । वैशिवि का अर्थ है विश्वेश्वर की सेवा में रत । ५ वर्ष की बालिका गाँव की पाठशाला में विद्यार्जन को जाने लगी । वहाँ पर वह मन लगाकर पढ़ती और श्रीकान्त मल्लेश के मन्दिर में जाकर प्रणाम किया करती ।

जब बालिका १२ वर्ष की हुई तो उसके पिता मन्त्रदीक्षा के लिए उसे अपने कुलगुरु के पास श्रीसैलम ले गए । पुत्री के अनुपम लक्षण देख कुलगुरु ने बताया कि यह विवाह कभी नहीं करेगी और संन्यास लेकर अपनी १४ पीढ़ियों को मोक्ष दिलाएगी । श्रीसैलम से लौटकर केसना ने अपनी पुत्री को साधना की पूरी स्वाधीनता दे दी । अपने घर में रहकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए वह अपने गुरु की शिक्षा का पूर्णतया पालन करने लगी ।

एक दिन गाँव के मन्दिर में पूजा करते समय मल्ला को ध्यान में एक दिव्य-दर्शन प्राप्त हुआ। उसने देखा श्रीराम उसके समक्ष खड़े हैं और उससे रामायण की रचना करने का आदेश दे रहे हैं। आदेशप्राप्ति के बाद वह उठी और मन्दिर के पुजारी को यह विषय में अवगत कराया। पुजारी ने तुरन्त लिखने के लिए तालपत्र, पक्षी के पंख की कलम तथा घण्ट पत्तों के रस की स्याही का प्रबन्ध कर दिया। मल्ला ने कुछ देर ध्यान करने के बाद रचना आरम्भ की। बिना रुके, बिना थके, उसने पूरी रामायण लिख डाली। तत्पश्चात वह सुरसहित उसे पढ़ने लगी। रचना बड़ी ही सुन्दर बन पड़ी थी। पुजारी ने सब कुछ देखा, सुना और दौड़कर गाँव से लोगों को मल्ला की रामायण सुनने को बुला लाया। शीघ्र ही आसपास के गाँवों में भी यह समाचार फैल गया।

लोग प्रतिदिन शिव-मन्दिर में मल्ला की रामायण सुनने आने लगे। धीरे धीरे मल्ला के काव्य की ख्याति विजयनगर साम्राज्य की राजधानी तक जा पहुँची। राजदरबार में भी सबने सुना और महाराजा कृष्णदेवराव के कानों तक यह बात जा पहुँची। महाराजा स्वयं एक शास्त्रविज्ञ थे। उन्होंने मल्लारचित रामायण सुनने की इच्छा व्यक्त की और मल्ला के पास यथोचित संवाद भिजवा दिया।

राजधानी में मल्ला का राजकीय स्वागत हुआ। दरबार में महाराजा कृष्णदेवराय से मल्ला का परिचय कराया गया। महाराज के आग्रह पर मल्ला ने मधुर वाणी में अपना काव्य गाना शुरू किया। सम्पूर्ण सभा मुग्ध हो गई। राज्य की ओर से मल्ला को कविरत्ना की उपाधि तथा स्वर्ण अभिषेक से अलंकृत किया गया।

मल्ला की कविताएँ समस्त तेलुगू समाज में बड़े प्रेम से गाई जाती हैं। ये गीत सरलता एवं भक्ति भाव से परिपूर्ण होने के कारण पिछले ५०० वर्षों के दौरान अत्यन्त लोकप्रिय हो गए हैं। धर्म ने ही भारतीय संस्कृति को सर्वोपरि स्थान दिलाया है। देश, समाज तथा व्यक्ति का चाल-चलन धर्मोपदेशों द्वारा ही निर्धारित होता आया है। हर हिन्दू के जीवन का लक्ष्य आध्यात्मिक परमानन्द की प्राप्ति है। वर्तमान भौतिक जीवन भावी जीवन में आनन्दप्राप्ति का मार्ग माना जाता है। हर जीव इसी लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है। हर काल में जन्मा व्यक्ति इस लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। पराविद्या सभी के लिए प्राप्य रही है और समाज ऐसी उपलब्धिवान विभूतियों का हर समय आदर करता आया है। पाश्चात्य जीवन दर्शन में सभी नागरिकों को भौतिक भोग - विलास में समान अधिकार प्राप्त है, जिससे भोग के साधनों की अपर्याप्तता को लेकर समाज में सर्वदा द्वन्द्व छिड़ा रहता है। भारत ने भोग-विलास को महत्व नहीं दिया। यहाँ आत्मज्ञान की प्रखरता को ही विशेष सम्मान मिला, जो सभी जाति व कुल के सदस्यों को आकृष्ट करती रही है। आज जातिवाद प्रबल हो रहा है और इसके फलस्वरूप द्वन्द्व उत्पन्न हो रहे हैं। इसका मूल कारण हमारा पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण और भौतिक साधनों को अति महत्व देना ही है।

मल्ला सन् १५३० में लगभग ९० वर्ष की आयु को प्राप्त कर, अपनी जीवन लीला से मुक्त हो गईं। उनका शरीर न रहा परन्तु उनकी रचनाएँ आज भी लोकप्रिय हैं।

भारत के हर प्रदेश में समय समय पर अनेक महान सन्तों ने जन्म लिया है। उन्होंने अपने जीवन, दर्शन तथा भक्तिपूर्ण साहित्य के द्वारा बदलते समयानुसार जनमानस में चेतना का संचार किया। जब कभी भारत में नास्तिकता एवं अधर्म ने सिर

उठाने का प्रयास किया, तब तब सन्तों ने भारत की धार्मिक प्रवृत्तियों को जगाकर उन्हें नई दिशाएँ प्रदान कीं।

मल्ला की रामायण लम्बी नहीं है, परन्तु इसमें पद्य एवं साहित्य की उत्कृष्टता है। यह रामायण पाठशालाओं में मूल पुस्तिका के रूप में पढ़ाई जाती है। हर विद्यार्थी को इसे कण्ठस्थ करना पड़ता है। मल्ला एक अथक रचयिता रहीं। उनकी रचनाएँ सरल, मधुर और मर्मस्पर्शी होती थीं। उनके रामायण में सुन्दर-काण्ड की रचना अति मनोरम बन पड़ी है। रावण, हनुमान व जननी सीता के चरित्र-चित्रण अभूतपूर्व हुए हैं। इस रचना ने मल्ला को तेलुगू साहित्य में अमर बना दिया।

कला व साहित्य

दक्षिण भारत के कला व साहित्य के विकास में विजयनगर साम्राज्य काल का विशेष योगदान रहा। यह काल सन् १३०१ से १८०० तक माना गया है। इस कालखण्ड के दौरान अनेक महापण्डितों ने उच्च स्तर के काव्य, नाट्य तथा गद्य में रचनाएँ कीं। उन दिनों लोक नृत्य शैली में यक्षगान होते थे, जो आकाशतले खुले मंचों पर जनसाधारण के मनोरञ्जनार्थ आयोजित हुआ करते थे। महाराजागण भी समय समय पर इसका रसास्वादन करते थे। इसी प्रकार मल्ला की रामायण भी तेलुगू अंचल में क्रमशः लोकप्रिय होती गई।

भारत का राष्ट्रीय जीवन

एक दिन सम्राट की अनुमति से राजसभा के कवियों ने मल्ला को तर्क के लिए आमन्त्रित किया। तेनालीराम ने मल्ला के कवित्व की परीक्षा की। तेनालीराम ने कहा, "हे महान कवियित्री, एक ऐसी कविता रचो, जिसमें 'गजेन्द्र की पुकार एवं प्रभु का

तुरन्त पहुँचने' का वर्णन हो। तुम्हें ३० सेकेण्ड का समय दिया जाता है।" यह विषय श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध में गजेन्द्र मोक्ष के सन्दर्भ में प्राप्त होता है। गजेन्द्र को विपत्ति में देख श्रीहरि गरुड़ पर आसीन होकर तत्काल आए और दया करके गज को घड़ियाल समेत पानी से निकाला। तदुपरान्त अपने चक्र से घड़ियाल का सिर काटकर उन्होंने गजेन्द्र को मुक्त कर दिया। सभी देवताओं ने श्रीहरि की इस लीला का अवलोकन किया।

महाराजा व सभा मल्ला के अभूतपूर्व ज्ञान एवं प्रत्युत्पन्नमति पर मुग्ध हो गए। सभा में मल्ला ने क्षण भर को ऊपर की ओर देखा, आँखें बन्द करके अन्तर में विराजे भगवान का ध्यान किया और अपने मधुर कण्ठ से गाकर कविता सुना दी। ३० सेकेण्ड से पहले ही यह कार्य पूर्ण हो गया था। तेनालीराम ने उनकी भूरि भूरि प्रशंसा की, फिर निम्नलिखित प्रश्न पूछे –

प्रश्न : तुम्हारा गुरु कौन है ?

उत्तर : श्रीकान्त मल्लिकार्जुन, जो गुरुओं के भी गुरु हैं।

प्रश्न : तुम एक बड़ी साहित्यकार हो, फिर भी तुमने अपने रामायण काव्य में संस्कृत को छोड़कर निम्नकोटि की चलित भाषा का प्रयोग क्यों किया ?

उत्तर : संस्कृत में रामायण अनेकों हैं, जिन्हें पण्डितगण चन्दन को ढोनेवाले पशु के समान ढोते रहते हैं, उनकी विशेषता को नहीं जानते। मेरी रामायण साधारण जनमानस के लिए उन्हीं की भाषा में हैं। संस्कृत की उच्च शैली उनकी समझ के परे हो जाती, वैसे ही जैसे कि गूंगे-बहरे के समक्ष संगीत। उस पर सभी हँसते। वत्स, गन्ने का पेड़ झुक जाने पर भी मीठा ही रहता है।

प्रश्न : अपनी रचना तुम महाराजा को समर्पित क्यों नहीं करती ?

उत्तर : यह क्या मेरी पुस्तक है ? यह तो श्रीराम की है। मेरा इस पर कोई अधिकार नहीं है। मैं तो केवल यन्त्र मात्र हूँ।

प्रश्न : सुदूर गाँव में एक साधारण कुम्हार जाति के घर में जन्मी, तुम इतनी बड़ी दार्शनिक कैसे बन गई ?

उत्तर : परमज्ञान प्रदान करनेवाले भगवान गोरेश्वर के वरदान से मेरा जन्म हुआ है। उनकी असीम कृपा, मेरे अध्यवसाय तथा तीक्ष्ण दृष्टि के फलस्वरूप मुझे बोध प्राप्त हुआ है।

प्रश्न : किस प्रकार ?

उत्तर : (१) मेरे पिता कुम्हार थे। मैं देखती थी कि वे सभी तरह की मूर्तियाँ बनाते हैं आदमी, जानवर, पेड़-पत्ते, फूल, गुड़ियाँ, बर्तन इत्यादि हर आकार की, किन्तु सबमें एक ही तत्व है - मिट्टी।

(२) अपने गाँव में मैं नित्य देखती थी कि तिलहनों में तेल, धरती के नीचे पानी के स्रोत, लकड़ी में अग्नि विद्यमान है, उसी प्रकार सभी जीवों में आत्मा भी विद्यमान है, ये उदाहरण एक ही तथ्य प्रकट करते हैं - ईश्वर सभी में व्याप्त हैं।

राजा के दरबार से अपने गाँव लौटकर मल्ला ने अपनी रामायण मन्दिर को सौंप दी, जहाँ वह अब भी सुरक्षित है। अपने जीवन का उद्देश्य पूर्ण होते ही मल्ला ने श्रीकान्त मल्लेश्वर तथा गाँववालों से सदा के लिए विदा ली और श्रीसैलम चली गईं। अपने अन्तिम दिन उन्होंने वहीं तपस्या एवं साधकों का मार्गदर्शन करने में बिताए।

✻

एक हि साधे सब सधै

स्वामी सत्यरूपानन्द

मानव जीवन में जहाँ कहीं भी कोई उल्लेखनीय सफलता है, कोई उपलब्धि है, उन्नति है; जहाँ कहीं उत्तुङ्ग ऊँचाइयों पर पहुँचा गया है, वहाँ साधना है, तपस्या है। बिना साधना या तपस्या के जीवन में कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिल सकती।

भिन्न भिन्न उपलब्धियों के लिए भिन्न भिन्न प्रकार की साधनाएँ होती हैं। किन्तु इन साधनाओं के मध्य एक तत्व ऐसा है, जो विभिन्न आकार-प्रकार और रंग की मणियों की माला में गुँथे हुए सूत के समान है। मणियाँ विभिन्न प्रकार की होती हैं, किन्तु उनमें पिरोया हुआ सूत एक होता है। यही सूत उन्हें बिखरने से बचाकर एक माला का रूप देता है। वही मणियों को अलंकार का रूप प्रदान कर उन्हें सार्थक बनाता है।

इसी प्रकार सभी साधनाओं और तपस्याओं के मध्य भी एक सूत्र है जो अर्थ दे कर उन्हें सफल बनाता है तथा साधक को पूर्णकाम करता है।

वह सूत्र क्या है ?

वह, सूत्र है साढ़े तीन अक्षर का महामंत्र 'अभ्यास'। इहलौकिक तथा परलौकिक दोनों प्रकार के जीवन के सभी आयामों में सफलता के लिए, पूर्णता के लिए, उच्चता के लिए, अभ्यास नितान्त आवश्यक है। यह सफलता की कुंजी है, उपलब्धि का रहस्य है।

आइए, इस अभ्यास पर थोड़ा विचार कर यह देखने का प्रयत्न करें कि यह है क्या ? जीवन में इसे कैसे उतारा जा सकता है ? इसका आचरण कैसे किया जा सकता है ?

शब्दकोश देखें तो अभ्यास का अर्थ है किसी कार्य को बार बार करना, उसे दुहराना। यह अर्थ लगता तो सरल है, किन्तु

क्या अभ्यास का केवल यही अर्थ है कि किसी कार्य को बार बार दुहराया जाय ? क्या केवल दुहराने मात्र से किसी कार्य में सफलता मिल सकती है ?

नहीं। अभ्यास का तात्पर्य केवल दुहराना या पुनरावृत्ति नहीं है। पुनरावृत्ति अभ्यास का एक आवश्यक तत्व भले ही हो, किन्तु यह इतने तक ही सीमित नहीं है। किसी भी महान लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अभ्यास के व्यापक अर्थ और तात्पर्य को जान लेना आवश्यक है। सभी प्रकार का अभ्यास यद्यपि पुनरावृत्ति है तथापि वही अभ्यास वरेण्य है, जो जीवन को सफल और सार्थक बनाकर धन्य कर दे।

अभ्यास की सार्थकता के लिये उद्देश्य का स्पष्ट होना नितान्त आवश्यक है। अभ्यास के साधक के सामने यह स्पष्ट होना चाहिए कि उस अभ्यास के द्वारा वह पाना क्या चाहता है ? यह इसलिए कि उद्देश्य ही अभ्यास को सार्थक या निरर्थक बनाता है। साधक को यह ठीक ठीक ज्ञात होना चाहिए कि किसी अभ्यास-विशेष का परिणाम क्या होगा ? स्पष्ट है कि वही अभ्यास सार्थक होगा, जो हमें जीवन में परिपूर्णता तथा परम तृप्ति प्रदान करे।

अभ्यास का परिपाक अपूर्णता की निवृत्ति में होता है। जीवन में जब किसी अभाव या कमी का बोध होता है तब उसे दूर करने के लिए हम उन उपायों का अभ्यास करते हैं, जिनसे वह अभाव दूर हो जाय। अभाव से मुक्त होने का प्रयत्न ही तो अभ्यास है। अतः यह अभ्यास तभी सार्थक होगा जब वह अभाव या अपूर्णता दूर हो जाय। अभ्यास के पश्चात भी यदि अभाव का बोध रह जाय, तो जान लेना चाहिए कि अभ्यास में कहीं कोई कमी रह गई है, कोई त्रुटि रह गई है। अभ्यास अभी पूरा नहीं हुआ है। कुछ शेष रह गया है। चरैवेति ! चले चलो।

अभी रुकना नहीं है, अभी अभ्यास पूर्ण नहीं हुआ है, इसलिये वह सार्थक भी नहीं हुआ है।

दीर्घकालीन अभ्यास के पश्चात् भी यदि अभ्यास विसर्जित होता न लगे, उसका परिपाक पूर्णता में न हो, अभ्यास सहज स्वभाव न बन जाय, तो सावधान हो जाना चाहिए। समझ लेना चाहिए कि हमारे अभ्यास में ही कहीं कोई भूल रह गई है, कुछ छूट गया है। अभ्यास से जो होना चाहिए था, वह नहीं हो पा रहा है।

यही वह समय है जब साधक को ठहर कर स्वयं अभ्यास की ही परीक्षा कर लेनी चाहिये, यह देख लेना चाहिये कि कहाँ क्या छूट गया है ? क्या कमी रह गई है अभ्यास में ?

– २ –

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में अभ्यास की एक सुन्दर परिभाषा दी है। यही वह मापदण्ड है जिससे हमें अपने अभ्यास की परीक्षा करनी होगी। उसी कसौटी पर उसे कसना होगा और जब अभ्यास उसमें खरा उतरेगा, तभी वह सही समझा जाएगा। वही अभ्यास सफल होगा तथा अभ्यासी को गन्तव्य पर पहुँचा देगा। भगवान ने अर्जुन से कहा –

असंशयं महाबाहो मनोदुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ (गीता ६/३५)

– "हे कौन्तेय, इसमें सन्देह नहीं कि इस चंचल मन को वश में लाना अत्यन्त कठिन है, तथापि अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ही यह पकड़ में आता है।"

सारी समस्या तो इस मन को लेकर ही है। जिसमें इसे लगाना चाहो, उसमें लगता नहीं और व्यर्थ ही इधर-उधर भागता

फिरता है। और जिस कार्य में हमारा मन नहीं लगता, वह कभी सफल नहीं हो सकता।

अभ्यास की सफलता और सार्थकता इसी में हैं कि हम मन को जिस कार्य में जहाँ भी जब तक लगाना चाहें, तब तक वह लगा रहे, हमारी इच्छा के विरुद्ध कहीं न जाय। दूसरे शब्दों में हम मन के मालिक हो जाएँ – मन पूरी तरह हमारे अधीन हो जाय।

यह कार्य केवल दुहराने – पुनरावृत्ति मात्र से संभव नहीं नहीं हैं। पुनरावृत्ति के साथ साथ वैराग्य भी न केवल आवश्यक, अपितु अनिवार्य है।

अभ्यास और वैराग्य एक बीज के दो फाँक के समान हैं। किसी भी बीज के दो फाँक जब एक साथ मिले होते हैं तभी उसे बोने पर उसमें अंकुर फूटता है तथा कालान्तर में वह वृक्ष में परिणत हो जाता है। यदि बीज की फाँकों को अलग-अलग करके बो दिया जाय, तो उससे पौधा नहीं उगेगा, उल्टे बीज स्वयं ही व्यर्थ और नष्ट हो जायेगा।

ठीक उसी प्रकार अभ्यास और वैराग्य बीज की दो फाँको के समान है। उन दोनों को एक साथ मिलाकर ही उनका उपयोग करना होगा। वैराग्य की भी साधना करनी होगी; तभी अभ्यास सार्थक और सफल होगा। आइए अब वैराग्य पर भी थोड़ा विचार कर लें।

वैराग्य के विषय में लोगों को बड़ी भ्रान्तियाँ हैं। किसी को जटाजूट बढ़ाने में वैराग्य दीख पड़ता है, तो किसी को सिर मुड़वाने में; कोई नंगे बदन रहने में वैराग्य देखता है, तो कोई किसी प्रकार के वस्त्र पहनने में; किसी को निरामिष भोजन में वैराग्य दीखता है, तो किसी को पान-तम्बाकू न खाने, सिगरेट न

पीने में वैराग्य दीख पड़ता है। फिर कोई घर-संसार, पत्नी-बच्चे छोड़कर भाग खड़े होने में ही वैराग्य देखता है। और भी न जाने कितनी विरोधात्मक तथा निषेधात्मक विधाओं में लोगों को वैराग्य दीख पड़ता है।

जिन लोगों ने केवल नकारने में, निषेध करनें में ही वैराग्य को देखा है, वे मानो ऐसे लोग हैं जिन्होंने हीरे के धोखे में काँच के टुकड़े को ही हीरा समझ कर जकड़ लिया है। वे नहीं जानते कि मूल्यवान सा दिखनेवाला यह काँच का टुकड़ा दो कौड़ी का है। उसकी कोई कीमत नहीं है। वह कभी भी हीरे के समान उपयोगी और मूल्यवान नहीं हो सकता। हीरा कड़े से कड़े ग्रेनाइट पत्थर और इस्पात को भी चीर कर रख देता है। सच्चा वैराग्य भी हीरे के ही समान होता है जो संसार के धन-दौलत, रूप-सौन्दर्य, नाम-यश आदि अभेद्य प्रलोभनों को चीरकर रख देता है। जहाँ नकारात्मक और निषेधात्मक वैराग्यरूपी काँच इन अभेद्य प्रलोभनों से टकराकर चूर चूर हो बिखर जाता है, वहीं असल वैराग्यरूपी हीरा इन प्रलोभनों से टकराने पर उन्हें विदीर्ण कर और अधिक चमक उठता है।

वैराग्य कोई निषेधात्मक विधा नहीं है। वह तो सत्य के ज्ञान से, सत्य के दर्शन से, उसकी अनुभूति से उत्पन्न वह बोध है जिसके कारण सत्य के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं की निरर्थकता तथा निस्सारता की साधक को प्रतीति हो जाती है। इस बोध के कारण सत्य की अनुभूति में बाधक सभी वस्तुएँ साधक को व्यर्थ प्रतीत होने लगती हैं, अतः अपनी व्यर्थता के कारण वे स्वयं ही साधक की चेतना से विसर्जित हो जाती हैं। इस अवस्था में साधक को उसे प्रयत्नपूर्वक त्यागना नहीं पड़ता। अतः वैराग्य एक सहज सकारात्मक अनुभूति का परिणाम है

अस्तु यह भी एक सकारात्मक विधा है । नकारात्मक और निषेधात्मक विधान मात्र नहीं ।

सत्य के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं के प्रति शाश्वत उदासीनता ही वैराग्य है । वैराग्यवान व्यक्ति के चित्त में सत्य के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु, कोई भाव या विकार उत्पन्न नहीं करती, कर भी नहीं सकती । उसके मन में असार वस्तुओं के प्रति कोई राग या द्वेष नहीं होता । उसके मन में उन वस्तुओं के प्रति एक उदासीनता का ही भाव रहता है । उन वस्तुओं की व्यर्थता और निरर्थकता का भाव उसके मन में सदैव बना रहता है । असत् एवं असार वस्तुओं के प्रति शाश्वत उदासीनता वैराग्य का लक्षण है, उसका मूल है ।

अभ्यास की सफलता के लिये साधक के मन में इस प्रकार का वैराग्य होना परम आवश्यक है । यह सहज वैराग्य जब विवेकपूर्ण अभ्यास से संयुक्त होता है, तभी वह अभ्यास सफल और सार्थक होकर साधक को सिद्धि प्रदान करता है ।

यह वैराग्य कैसे प्राप्त करें ?

इस प्रकार के वैराग्य को प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है – वैराग्यवान महापुरुषों का संग करना । उनका जीवन देखकर, उनके उपदेशों को सुनकर, उसके अनुसार अपने जीवन को गढ़ने का प्रयत्न करना । चिन्तन, मनन और विचार द्वारा अपने अंतःकरण का शोधन करना । उसमें परिवर्तन करना ।

किन्तु ऐसे वैराग्यवान महापुरुषों का संग प्रायः सुलभ नहीं हो पाता । तब क्या करें ?

यदि महापुरुषों का संग न मिल पाये तो ऐसे साधकों का संग करना जो कि अभी उस प्रकार के वैराग्य में तो प्रतिष्ठित नहीं हो पाये हैं, किन्तु उनके मन में उस प्रकार का वैराग्य प्राप्त

करने की तीव्र इच्छा है तथा उस इच्छा के अनुकूल प्रयत्न है और परिश्रम भी । ऐसे साधकों से संग के भी वैराग्य प्राप्ति में बड़ी सहायता मिलती हैं ।

इस प्रकार के सत्संग के साथ ही साथ वैराग्यवान महापुरुषों द्वारा लिखे गये ग्रन्थों का अध्ययन करना, उन पर चिन्तन-मनन करना । उन ग्रन्थों के उपदेशों को अपने आचरण में लाने का परिश्रमपूर्वक प्रयत्न करना आदि की भी अपेक्षा है ।

ये सब तो सहायक उपाय है; मुख्य बात है स्वयं के अनुभव और विचार द्वारा उन सभी बातों का त्याग करना, जिनके विषय में हम जान गये हैं कि ये बातें हमारे लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक हैं । जिन विषयों का चिन्तन, जिन बातों का आचरण हमारे मन में वैराग्य के विपरीत भावों को उठा रहा हो उनका तत्काल त्याग करना, उन आचरणों से सर्वथा विरत हो जाना और साथ ही साथ वैराग्यपरक चिन्तन तथा आचरण करना । संक्षेप में ये ही वे उपाय हैं, जिनसे वैराग्य की प्राप्ति हो सकती है ।

– ३ -

अब रही अभ्यास की बात । अभ्यास की सार्थकता और सफलता के लिए सर्वप्रथम वैराग्य को पुष्ट और दृढ़ करने का ही प्रयास करना होगा । रुचि हो या न हो, मन लगे या न लगे, अध्यवसायपूर्वक ऊपर वर्णित अभ्यास की साधना दृढ़तापूर्वक करनी होगी । पुरानी आदतें इसमें व्यवधान उत्पन्न कर सकती हैं । किन्तु उनकी ओर ध्यान न देकर दृढ़तापूर्वक अपने अभ्यास में लगे रहना होगा । साथ ही साथ पुरानी आदतों से होनेवाले दोषों पर भी बार-बार विचार करना होगा । उन आदतों को त्याग देने पर उससे होने वाले लाभ पर भी विचार करना होगा ।

फिर सतत विचार द्वारा इन बातों की मन पर गहरी छाप डालना – यही सब अभ्यास है।

इस 'अभ्यास' का सतत अभ्यास करने पर मन धीरे धीरे वैराग्य के लाभ तथा गुणों की ओर आकर्षित होने लगेगा तथा वैराग्य-विरोधी भावों की ओर उदासीन रहने लगेगा, उनकी उपेक्षा करने लगेगा। यह उपेक्षा दीर्घ अभ्यास से पूर्ण उदासीनता में पर्यवसित हो जाती है और एक बार यदि किसी वस्तु के प्रति उदासीनता आ जाय तो उसके प्रति विवेक द्वारा विचार कर वैराग्य लाना सहज हो जाता है। ऐसा वैराग्य ही स्थायी होता है। आध्यात्मिक जीवन में यह वैराग्य अपने आप में एक उपलब्धि है।

अभ्यास की सार्थकता के लिये दूसरा महत्वपूर्ण अभ्यास जो साधक को करना है, वह है अपने विकास और उन्नति की अनन्त सम्भावनाओं पर दृढ़ विश्वास। कभी विश्वास हिलने लगे, डिग जाय, तभी परिश्रमपूर्वक विचार द्वारा अपनी अनन्त सम्भावनाओं का दृढ़तापूर्वक समर्थन करना होगा। उसका दावा और तब तक दृढ़तापूर्वक दावा करते रहना होगा, जब तक कि वह हमारे रग रग में न भिद जाय; रक्त में न मिल जाय; हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व में न छा जाय; हमारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व अनन्त ऊँचाइयों तक उठ सकने की सम्भावनाओं से न भर जाय; उसमें सराबोर न हो जाय।

इन उच्च भावों को आयत्त करने के लिये दीर्घकालीन अभ्यास की आवश्यकता होती है। इसके लिये व्यक्ति को अपनी सभी प्रकार की दुर्बलताओं और छुद्रताओं के विरुद्ध अविराम संघर्ष करना पड़ता है। अन्तिम विजय हमारी ही होगी इसी विश्वास के साथ अविराम संघर्ष करने का नाम ही तो अभ्यास है।

आज तक हम अनियमित अभ्यास के, दीर्घसूत्रता के अभ्यस्त हो गये हैं। जीवन की सार्थकता और सफलता के लिये हमें जागना होगा। यह कार्य अप्रिय और कष्टप्रद होगा, किन्तु दृढ़तापूर्वक वैराग्य का आश्रय ले परिश्रमपूर्वक अभ्यास करना होगा – अखण्ड अनवरत अभ्यास। यही मार्ग है अपनी सभी दुर्बलताओं को जीतने का, अपनी अनन्त सम्भावनाओं की अनुभूति और अभिव्यक्ति का। एक प्रश्न और रह जाता है – कब और कहाँ से हम यह अभ्यास प्रारम्भ करें?

इस प्रश्न का एक ही उत्तर है – आज! अभी!! इसी क्षण से हमें अभ्यास आरंभ कर देना होगा। यही वह शुभ घड़ी है। आइए हम अपनी दुर्बलताओं और दरिद्रता के विरुद्ध युद्ध का शंखनाद कर दें। इन्द्रियों की दासता के विरुद्ध वज्रनाद से घोषणा करें – मैं अपनी इन्द्रियों और मन का स्वामी हूँ। दास नहीं, सवामित्व! ईश्वरत्व मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसे पाकर ही रहूँगा।

यही अभ्यास की परिणति है, उसकी फलश्रुति है।

संसार का स्वरूप

अत्यन्त असाधु व्यक्ति इस जगत् को नरकस्वरूप देखते हैं; मध्यम श्रेणी के लोग इसे स्वर्गस्वरूप देखते हैं; और जो पूर्ण, सिद्ध महापुरुष हैं, वे इसे साक्षात भगवान के रूप में देखते हैं।

- स्वामी विवेकानन्द

श्रीराम और श्रीरामकृष्ण (१)

स्वामी निखिलेश्वरानन्द

(रामकृष्ण आश्रम, राजकोट - ३६०००१)

"भैया, दक्षिणेश्वर का काली मंदिर अभी कितना दूर है ?" – अयोध्या से कलकत्ता को पैदल चले आ रहे उन रामायती साधु ने व्यग्रतापूर्वक पूछा। उत्तर मिला, "बाबाजी, पास में ही है।" वे साधु हर्षोल्लासपूर्वक सोचने लगे, "अहा, इतनी लम्बी पैदल यात्रा की थकान अब दूर होगी। मेरे इष्टदेव श्रीराम के दर्शन प्राप्त होंगे।" इस कल्पना से ही उनका मनमयूर नाचने लगा। जिस दिन से उन्हें ज्ञात हुआ था कि उसके इष्टदेव श्रीराम ने पृथ्वी पर पुनः जन्म ग्रहण किया है और वे परमहंस के रूप में दक्षिणेश्वर में निवास कर रहे हैं, तभी से उनके चित्त में उनको प्रत्यक्ष दर्शन करने की लालसा जग उठी थी। "अहा, कितने दिनों की साध आज पूरी होगी।" यह सोचकर वे नवीन उत्साह के साथ द्रुत गति से चलने लगे। दक्षिणेश्वर के मन्दिर में पहुँचते ही उन्होंने पूछा, "परमहंस महाशय कहाँ मिलेंगे।" मंदिर के कर्मचारियों ने कहा – "अरे, उन्होंने तो कुछ दिनों पहले ही देहत्याग किया है।" इतना सुनते ही साधु पर मानो वज्रपात हो गया। "मैं इतनी तकलीफ उठाकर उनके वास्ते पैदल आया हूँ और उन्होंने शरीर छोड़ दिया ?" ऐसा कहकर वे रोने लगे। दुखी मन से वे बिना कुछ खाये-पीये पंचवटी के पास चुपचाप बैठे रहे। एक के बाद एक – तीन दिन बीत गये। किन्तु साधु ने किसी से बातचीत नहीं की। लोगों ने उन्हें बहुत समझाया, कुछ अन्न ग्रहण करने के लिए कहा, परन्तु कोई फल नहीं हुआ। एक रात बड़ी अद्भुत घटना हुई। उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्ण दिगम्बर रूप में गंगा की ओर से चले आ रहे हैं; उनके हाथों में मिट्टी का एक पात्र है। श्रीरामकृष्ण बकुलतला घाट पर आये

और उन साधु को उस पात्रं में से खीर खिलाकर अदृश्य हो गये। साधु तृप्त हो गये। उनकी मनोकामना पूर्ण हुई। दूसरे दिन जब उन्होंने आनन्दपूर्वक रामलाल दादा (श्रीरामकृष्णदेव के भतीजे) को यह घटना सुनायी, तो वे आश्चर्यचकित रह गये और उन साधु के भाग्य की सराहना करने लगे। जिस पात्र में से श्रीरामकृष्ण ने उन साधु को खीर खिलाई थी, उसे रामलाल दादा ने स्मृति के रूप में कई वर्षों तक सँभालकर रखा था।

श्रीरामकृष्ण के श्रीराम रूप में दर्शन कई लोगों को मिले थे। ब्राह्मसमाज के नेता पंडित शिवनाथ शास्त्री एक बार दक्षिणेश्वर गये थे। श्रीरामकृष्णदेव के कमरे में प्रवेश करते समय उन्होंने एक अद्भुत दृश्य देखा। श्रीरामकृष्णदेव धनुष-बाण लेकर बैठे थे! श्रीरामकृष्ण शास्त्रीजी को उनके सात्विक स्वभाव के कारण बहुत चाहते थे। उन्हें देखते ही श्रीरामकृष्णदेव धनुष को वहीं रखकर दौड़ते हुए उनके पास आये, स्नेहपूर्वक आलिंगन किया और भावावेश में मूर्छित हो गये।

अपने एक अन्तरंग पार्षद को दिव्य-दर्शन देकर श्रीरामकृष्णदेव ने कहा था– "तुझे पता है! मुझे अपने रामावतार में चौदह वर्षों तक वनवास झेलना पड़ा था।"

श्रीरामकृष्णदेव को चौसठ तंत्रों की साधना सिखानेवाली भैरवी ब्राह्मणी एक बार दक्षिणेश्वर में पंचवटी के नीचे अपने इष्टदेवता श्रीरघुवीर को नैवेद्य दे रही थीं। ध्यान करते समय उन्हें कुछ अपूर्व दर्शन हुआ। उनका बाह्यज्ञान लुप्त हो गया और उनके नेत्रों से प्रेमाश्रु की धारा बहने लगी। उसी समय श्रीरामकृष्णदेव सहसा वहाँ आ पहुँचे और दैवी आवेश में नैवेद्य को ग्रहण करने लगे। कुछ देर बाद ब्राह्मणी की संज्ञा लौटी। नेत्र खुलने पर ध्यान में हुए दिव्य-दर्शन के साथ इस दृश्य का साम्य

देखकर उनका रोम रोम पुलकित हो उठा। इस प्रकार श्रीरामकृष्णदेव के व्यक्तित्व में श्रीरघुवीर का प्रत्यक्ष दर्शन मिलने पर प्रेमविह्वल चित्त से अश्रु विसर्जन करते हुए, उन्होंने जिस रघुवीर-शिला का दीर्घकाल तक पूजन किया था, उसे गंगा में विसर्जित कर दिया।

श्रीरामकृष्णदेव (गदाधर) के पिता श्री खुदीराम चटोपाध्याय एक बार अपने इष्ट श्री रघुवीर की पूजा कर रहे थे। वे जब ध्यान में निमग्न थे, उसी समय बालक गदाधर ने श्री रघुवीर की पुष्पमाला अपने गले में डाल ली और पिताजी को कहने लगा, "देखिये, मैंने रघुवीर का वेश धारण किया है; देखिए, तो पुष्पमाला धारण करके मैं कैसा दिखता हूँ ?"

श्रीरामकृष्णदेव की महासमाधि के बाद श्री माँ सारदादेवी जब कामारपुकुर में रहती थीं, तब श्रीरामकृष्णदेव ने एक बार उन्हें दर्शन देकर कहा, "मुझे खिचड़ी खिलाओ।" माँ ने खिचड़ी पकाकर कुलदेवता श्री रघुवीर को भोग लगाया। वे श्रीरामकृष्णदेव को श्री रघुवीर से अभिन्न समझती थीं।

श्रीराम तथा श्रीरामकृष्ण में साम्य

युगप्रयोजन के अनुसार ईश्वर अवतार ग्रहण करते हैं। त्रेतायुग में वे आते हैं श्रीराम के रूप में रावण, कुंभकर्ण आदि दैत्यों का विनाश करने के लिए। क्षत्रिय वंश में राजा के रूप में अवतार ग्रहण करते हैं। श्रीरामकृष्णदेव के रूप में इस युग में वे आए थे त्याग के उच्चतम आदर्श द्वारा जड़वाद तथा संशय रूपी राक्षसों का विनाश करने के लिए। इस बार सत्वगुण का ऐश्वर्य लेकर उन्होंने एक निर्धन ब्राह्मण की कुटिया में जन्म ग्रहण किया। अतः यह स्वाभाविक ही है कि दोनों अवतारों के बीच

पार्थक्य हो। तथापि दोनों अवतारों के जीवन में कुछ अद्भुत साम्य भी दिखाई देता हैं।

श्रीरामकृष्णदेव के कुलदेवता श्रीराम थे। उनका पूरा परिवार श्रीराम का भक्त था और इसीलिए परिवार के कई सदस्यों के नाम 'राम' नाम से जुड़े हुए थे। उनके पिता का नाम था 'खुदीराम', पितामह का नाम था 'माणिकराम', पिता के भाइयों का नाम था 'निधिराम' एवं 'कानाईराम', बूआ का नाम था 'रामशीला'। उनके अन्य भाइयों के नाम थे 'रामकुमार' और 'रामेश्वर' भानजों के नाम थे 'रामरतन', 'राजाराम', 'राघव' तथा 'हृदयराम। भतीजों के नाम थे 'रामलाल' और 'शिवराम'। अन्य रिश्तेदारों के नाम थे 'रामचंद्र', 'रामतारक', 'हलधारी' आदि। उनके श्वसुर का नाम था 'रामचंद्र' और उनके कुलदेवता भी 'श्रीराम' ही थे।

श्रीराम के समान ही श्रीरामकृष्ण में भी दिव्य भाव एवं मानव भाव का अद्भुत संगम हुआ था। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के समान साहस, सुंदरता, सहनशीलता आदि मानवीय गुणों के अतिरिक्त शरणागत-वत्सलता, पतितोद्धारकता, भक्त-वत्सलता आदि दिव्य भाव भी उनके चरित्र में दिखाई देते हैं।

एक यशस्वी कवि ने अयोध्यापति श्रीरामचंद्र के लोकोत्तर चरित्र का वर्णन करते हुए लिखा है –

वज्रादपि कठोराणि मृदुनि कुसुमादपि।
लोकोतराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥

श्रीरामकृष्णदेव के जीवन में भी एक शिशु की सरलता तथा महामानव की कठोरता एक एक साथ देखने को मिलती है।

'रघुकुल रीत सदा चली आई, प्राण जाय पर वचन न जाई।' श्रीराम सत्यनिष्ठ थे। पिता के वचन को पूरा करने के

लिए उन्होंने स्वेच्छा से १४ वर्षों तक वनवास स्वीकार किया था। श्रीरामकृष्ण भी बचपन से ही सत्यनिष्ठ थे उन्होने धनी लुहारिन को वचन दिया था कि उपनयन संस्कार के समय पहली भिक्षा वे उसी से ग्रहण करेंगे। अतः परिवार के लोगों के सख्त विरोध के बावजूद उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया था। श्रीरामकृष्ण ने जगन्माता को धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा, यश-अपयश सभी कुछ अर्पण कर दिया; देह-मन सर्वस्व अर्पण कर दिया, किन्तु "यह ले तेरा सत्य, यह ले तेरा असत्य" ऐसी प्रार्थना वे नहीं कर सके। अद्भुत सत्यनिष्ठा उनमें थी। जिस दिन जिस जगह जाने के लिए वे वचन देते थे उसे अवश्य पूरा करते। किसी के पास से कोई वस्तु ग्रहण करेंगे, ऐसा कहने के बाद अन्य किसी के पास से वे उस वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकते थे।

श्रीराम के समान श्रीरामकृष्ण भी माता-पिता से स्नेह करते एवं उनकी आज्ञा का पालन करते थे। श्रीरामकृष्ण जब वृन्दावन गये तब उन्होंने निश्चय किया कि वे वहीं रह जायेंगे। किन्तु जब सोचा कि उनकी जननी को इससे दुःख होगा तो तुरन्त उन्होंने अपना निर्णय बदल डाला और कलकत्ते के लिए रवाना हो गये।

'विनयपत्रिका' में गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं – "मैं पतित तुम पतितपावन, दोउ बानक बने।" श्रीराम के समान श्रीरामकृष्ण भी पतितपावन थे। गिरीश घोष, नटी विनोदिनी, शराबी पद्मविनोद, कृष्णदत्त बिहारी, पतिता भगवती दासी, अपराधी मन्मथ इत्यादि श्रीरामकृष्ण के दिव्य स्पर्श से पावन हो गये थे। दूसरों के पापों को ग्रहण करने से श्रीरामकृष्णदेव को गले में कैन्सर हो गया, फिर भी उन्होंने पतितों के उद्धार का कार्य बन्द नहीं किया।

श्रीराम अहेतुक दयासिन्धु और शरणागतवत्सल थे। विभीषण के शरण माँगने पर अन्य लोगों ने उन पर शंका की थी, किन्तु श्रीराम ने तुरन्त उन्हें शरण देकर अभयदान करते हुए कहा –

कोटि विप्र बध लागहि जाहूँ।
आये शरन तजउ नहिं ताहू॥

– "यदि कोई कोटि ब्राह्मणों की हत्या करने के बाद भी मेरी शरण में आयेगा, तो भी मैं उसका त्याग नहीं करूँगा।"

श्रीरामकृष्ण के जीवन में भी शरणागतवत्सलता की पराकाष्ठा देखने को मिलती है। पापी, तापी सभी को उनकी कुल, मर्यादा, जाति आदि पर ध्यान न देकर उन्होंने शरण दी। एक बार कामारपुकुर में बरसात के दिनों में छिछले पानी से होकर जाते समय एक मछली उनके चरणों के पास आ गई! उन्होंने दयार्द्र चित्त से साथ चलनेवालों को कहा, "अरे, शरणागत हुई है, इसे पानी में छोड़ आओ।" इसीलिए स्वामी विवेकानन्दजी ने श्रीरामकृष्णदेव की स्तुति में लिखा – "निष्कारण भकत शरण त्यजि जाति कुल मान।"

हनुमान भाव से भक्ति-साधना

जगन्माता काली के दर्शन के बाद श्रीरामकृष्ण का चित्त अपने कुलदेवता श्री रघुवीर की ओर आकृष्ट हुआ। हनुमानजी जैसी अनन्य भक्ति के द्वारा ही श्रीराम के दर्शन संभव हैं, ऐसा समझकर अपने में हनुमानजी के भाव का आरोप कर वे दास्यभाव से भक्ति की साधना में प्रवृत्त हुए। उस समय की अपनी अवस्था का वर्णन करते हुए वे कहते – "उस समय आहार-विहारादि सभी कार्य मुझे हनुमानजी की तरह करने पड़ते थे, ऐसी बात नहीं कि मैं इच्छापूर्वक उन कार्यों को किया करता

था, किन्तु अपने आप ही वैसा हो जाता था। धोती को पूँछ की तरह लपेटकर मैं अपनी कमर में बाँधता था, उछल-कूदकर चलता था, फलमूलादि के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं खाता था तथा छिलके निकालकर फल खाने की मेरी प्रवृत्ति नहीं होती थी, पेड़ के ऊपर ही अधिक समय बिताया करता था और गम्भीर स्वर से 'रघुवीर', 'रघुवीर' कहकर निरन्तर मैं उनको पुकारता रहता था। उस समय मेरी आँखें सदा चंचल रहती थीं तथा आश्चर्य है कि उस समय मेरी रीढ़ की हड्डी का अन्तिम छोर भी लगभग एक इंच बढ़ गया था।"

सीताजी के दर्शन

दास्य भक्ति की साधना के समय एक बार श्रीरामकृष्णदेव को सीताजी के अद्‌भुत दर्शन हुए थे। इस दर्शन का वर्णन करते हुये श्रीरामकृष्ण ने कहा था – "उस समय एक दिन मैं पंचवटी के नीचे बैठकर ध्यान-चिन्तादि कुछ नहीं कर रहा था, ऐसे ही बैठा था, उसी समय एक अनुपम ज्योतिर्मय स्त्रीमूर्ति मेरे समीप आविर्भूत हुई और वह स्थान आलोकित हो उठा। तब केवल वह मूर्ति ही मुझे दृष्टिगोचर नहीं हो रहीं थी, बल्कि पंचवटी की वृक्ष-लताएँ तथा गंगाजी आदि सभी कुछ मुझे दिखाई दे रहा था। मैंने देखा कि वह मूर्ति मानवीय है क्योंकि देवियों की तरह वह त्रिनेत्रयुक्त नहीं हैं। किन्तु प्रेम, दुःख, करुणा तथा सहिष्णुतापूर्ण वैसे मुखमण्डल के समान अपूर्व ओजस्वी गंभीर भाव देवमूर्तियों में भी प्रायः देखने को नहीं मिलता है। प्रसन्नदृष्टि से मुग्ध करती हुई वे देव-मानवी धीरे धीरे उत्तर से दक्षिण को, मेरी ओर आ रहीं थीं। स्तम्भित होकर मैं सोचने लगा, 'ये कौन है ?' ठीक उसी समय एक बड़ा भारी बन्दर कहीं से 'हुप', 'हुप', करता हुआ वहाँ आकर उनके चरणों में गिर पड़ा; यह देखकर मेरा मन भीतर से कह उठा, 'सीता, जन्मदुःखिनी सीता,

जनक-राजनन्दिनी सीता, राममयजीविता सीता', तब 'माँ', 'माँ' कहकर अधीर हो मैं उनके चरणों में लोट ही रहा था कि तत्काल वे बड़ी तेजी से आगे बढ़कर (अपने शरीर को दिखाते हुए) इसमें प्रविष्ट हो गयीं। ध्यान-चिन्तादि के बिना इस प्रकार का कोई दर्शन इससे पूर्व मुझे कभी प्राप्त नहीं हुआ था। जन्मदुःखिनी सीताजी का दर्शन प्राप्त होने के कारण ही सम्भवतः मुझे उनकी तरह आजन्म दुःख भोगना पड़ रहा है।"

इस दर्शन के समय श्रीरामकृष्णदेव ने सीताजी के हाथों में डायमन्ड कट की चुड़ियाँ देखी थीं। ठीक वैसी ही चूड़ियाँ उन्होंने श्री माँ सारदादेवी के लिए बनवायी और कहा, "मेरे साथ उसका यही सम्बन्ध है।" ब्रह्म और शक्ति अभिन्न हैं। श्रीराम के साथ सीता, और श्रीकृष्ण के साथ श्री राधा का आगमन होता है, उसी प्रकार श्रीरामकृष्णदेव के साथ माँ सारदा का आगमन होता है। रामेश्वर शिवलिंग की पूजा करते समय श्री माँ सारदादेवी के मुख से अचानक निकल पड़ा था – "जैसा रख गयी थी, वैसा ही है।"

वात्सल्य भाव की साधना

दास्य भाव से श्रीरामकृष्णदेव ने श्रीराम की उपासना की थी और इसके कई वर्षों पूर्व ही उन्होंने श्री रघुवीर की पूजा करने के लिए राममंत्र की दीक्षा लेकर शान्तभाव से श्रीराम की उपासना की थी। एक बार दक्षिणेश्वर में जटाधारी नाम के एक रामायती साधु का आगमन हुआ था, तब उन्हें वात्सल्य भाव से साधना करने की इच्छा हुई। जटाधारी ने उनका आग्रह देखकर बड़े आनन्द से अपने इष्टमंत्र की दीक्षा उन्हें दी। श्रीरामकृष्ण इस मंत्र की सहायता से कुछ दिनों के अंदर ही निरन्तर श्रीरामचंद्रजी की बालमूर्ति के दर्शन करने में समर्थ हुये थे। उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव हुआ था कि –

जो राम दशरथ का बेटा, वही राम घट घट में लेटा।
उसी राम ने जगत पसारा, वही राम है सबसे न्यारा ॥

जटाधारी कई वर्षों से 'रामलला' नाम की बालमूर्ति की निष्ठापूर्वक सेवा करते थे। श्रीरामकृष्णदेव इस मूर्ति को जीती-जागती देखते, उसके साथ खेलते, बातचीत करते। इस मूर्ति के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण ऐसी अद्‌भुत बातें कहते कि आधुनिक मानव के मन में संशय उत्पन्न होता है कि क्या सचमुच में ऐसा सम्भव है ? श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग के लेखक स्वामी सारदानन्द उनके एक अन्तरंग पार्षद थे। वे विज्ञान के छात्र थे और आधुनिक बुद्धिवादी थे। उन्होंने लिखा है कि 'लीलाप्रसंग' में दी गई सब बातों की उन्होंने स्वयं जाँच की है, अनुभव करने के बाद ही लिखी है। उन्होंने जब श्रीरामकृष्णदेव से ये बातें सुनी तब उन्हें भी बड़ा अचरज हुआ। किन्तु सत्यनिष्ठ श्रीरामकृष्णदेव के स्वमुख से इन बातों को सुनने के बाद उन पर अविश्वास भी कैसे किया जाय ? श्रीरामकृष्णदेव स्वामी सारदानन्द व अन्य शिष्यों को रामलला के बारे में जो कुछ कहते थे, वह उन्हीं के शब्दों में यहाँ दिया जाता है –

"ज्यों ज्यों दिन बीतने लगे, त्यों त्यों रामलला का भी मेरे प्रति प्रेम बढ़ने लगा। जब तक बाबाजी के पास रहता, तब तक रामलला वहाँ पर प्रसन्न रहा करता, खेलता रहता, पर ज्योंही मैं वहाँ से अपने कमरे में चला आता, उस समय वह भी मेरे साथ ही साथ चल देता। मेरे मना करने पर भी साधु के समीप वह, नहीं ठहरता था। पहले पहले मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि मैं अपने मन की धुन में ही ऐसा देखा करता हूँ। अन्यथा साधु के उस चिरपूजित विग्रह का, जिसको वह इतना लाड़-प्यार करता है, भक्तिपूर्वक अत्यन्त सावधानी से जिसकी सेवा करता है, उस साधु

की अपेक्षा मुझसे अधिक प्यार होना क्या कभी सम्भव हो सकता है ? किन्तु मेरी इस धारणा का मूल्य ही क्या था ? मैं सचमुच देखा करता था, जैसे तुम लोगों को देख रहा हूँ इसी प्रकार स्पष्ट देखा करता था कि कभी वह मेरे आगे आगे, कभी पीछे पीछे नाचता हुआ मेरे साथ चला आ रहा है; फिर कभी कभी वह मेरी गोद में चढ़ने के लिए हठ कर रहा है। पुनः जब मैं उसे गोद में लिए रहता, तो कभी कभी किसी भी तरह वह गोद में नहीं रहना चाहता, गोद से उतरकर धूप मैं दौड़ना या गंगाजी में उतरकर उछल-कूद मचाना चाहता। मैं उसे मना करता, 'अरे, ऐसा मत कर, धूप में पाँव जलेंगे; जल में मत कूद, सर्दी लग जायेगी, बुखार आ जायेगा।' पर उन बातों को वह कब सुनने लगा ? मानो कोई किसी और से कह रहा हो।

"एक दिन जब मैं नहाने जा रहा था, उस समय वह भी मेरे साथ चलने के लिए हठ करने लगा। बाध्य होकर उसको मुझे ले जाना पड़ा। नहाने के बाद उसने किसी भी तरह जल से निकलना नहीं चाहा, मैं कहता ही रहा, पर उसने नहीं सुना। अन्त में क्रोधित होकर जब मैंने उसके सिर को जल में डुबोकर कहा, 'ले, जल में जितना रहना चाहे रह, तब मैंने देखा कि जल के अन्दर वह सचमुच हाँफ उठा और उसका शरीर सिहर उठा। उस समय उसके कष्ट को देखकर 'यह मैंने क्या किया' कहता हुआ जल से उसे गोद में उठा लिया।

"और एक दिन उसके लिए मेरे मन में कितना कष्ट हुआ था, कितना रोया था, मैं कह नहीं सकता। उस दिन रामलला के हठ को देखकर उसके चित्त को दूसरी ओर आकृष्ट करने के निमित्त मैंने उसे धान समेत थोड़ी सी लाई खाने को दी तदनन्तर मैंने देखा कि उस लाई को चबाते हुए धान के छिलकों

से उसकी नरम जीभ छिल गयी हैं। यह देखकर मुझे अत्यन्त कष्ट हुआ। उसे गोद में लेकर मैं जोर से रोने लगा तथा उसकी ठोड़ी पकड़कर कहने लगा, 'माता कौशल्या जिस मुँह में यह सोचकर कि कहीं लग न जाय, खीर, मलाई, नवनीत आदि भी अत्यन्त सावधानी के साथ खिलाया करती थी, मैं इतना अभागा हूँ कि उस मुँह में ऐसी तुच्छ वस्तु को देते हुए मेरे मन में थोड़ा सा भी संकोच नहीं हुआ।"

इन बातों को कहते समय श्रीरामकृष्णदेव व्याकुलतापूर्वक रोने लगे। श्रीराम के बालरूप के प्रति उनका कितना प्रगाढ़ प्रेम था, यह इसी पर से दीख पड़ता है। (शेष आगामी अंक में)

समाज-सुधार

मान लो, समाज में कोई दोष है, तो तुम देखोगे कि फौरन ही एक दल उठकर गाली-गलौज करने लगता है। कभी कभी तो ये लोग बड़े मतान्ध और कट्टर हो उठते हैं।... तोड़ना सहज है; पागल आदमी भी जो चाहे तोड़-फोड़ सकता है, पर किसी वस्तु को गढ़ना उसके लिए बड़ा कठिन है। मान लो कि कोई दोष है, तो केवल गाली-गलौज से तो कुछ होगा नहीं ; हमें उसकी जड़ तक जाना पड़ेगा। पहले तो यह जानो कि दोष का कारण क्या है, फिर उस कारण को दूर करो। इससे दोष अपने आप ही चला जायगा। चिल्लाने से कोई लाभ नहीं होता, वरन् उससे हानि की ही अधिक सम्भावना रहती है।

- स्वामी विवेकानन्द

माँ के सान्निध्य में (३१)

सरयूबाला देवी

(प्रस्तुत संस्मरणों की लेखिका श्री माँ सारदा देवी की शिष्या थीं। मूल ग्रंथ "श्री श्री मायेर कथा" के प्रथम भाग से इसका अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं। -सं.)

उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता, जनवरी, १९११

शुक्रवार को सबेरे श्री 'क' ने हमारे पटलडांगा स्थित घर में आकर सूचना दी, "कल शनिवार को हम लोग श्री माँ के दर्शन के लिए जायेंगे, आप तैयार रहियेगा।" माँ का कल दर्शन लाभ होगा, इसी खुशी में मुझे सारी रात नींद नहीं हुई। कलकत्ते में मैं पिछले चौदह-पन्द्रह वर्षों से रह रही थी, पर इतने दिनों के बाद माँ की कृपा ? इतने वर्षों के बाद यह सुअवसर प्राप्त हुआ ? दूसरे दिन मैं दोपहर में सुमति को ब्राह्म बालिका विद्यालय से लेकर श्री माँ के दर्शनों के लिए गाड़ी में रवाना हुई। कैसी व्याकुलता से भरा हृदय लेकर मैं माँ के पास गयी थी, इसे व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं है। वहाँ पहुँचकर देखती हूँ कि माँ बागबजार के अपने घर में ठाकुर-घर के दरवाजे के सामने खड़ी हैं, एक पैर चौखट पर है और दूसरा पापोश पर। सिर पर आँचल नहीं है। बायें हाथ को उठाकर दरवाजे के ऊपर रखी हैं तथा दाहिना हाथ नीचे है। शरीर के अर्धभाग में वस्त्र नहीं है। वे एक दृष्टि से निहार रही हैं। जाकर प्रणाम करते ही उन्होंने परिचय पूछा। सुमति ने कहा, "मेरी दीदी है।" सुमति पहले कई बार वहाँ गयी थी। माँ ने तब मेरी ओर देखकर कहा, "यह देखो बेटी, इन लोगों को लेकर कैसी विपत्ति में पड़ी हुई हूँ। भाई की स्त्री, भतीजी, राधू सभी ज्वर से पीड़ित हैं। उन्हें कौन देखे, कौन उनके पास बैठे, कुछ ठीक नहीं है। तुम लोग बैठो, मैं कपड़े धोकर आती हूँ।" कपड़े साफ करके लौटकर माँ ने दोनों हाथों में

जलेबी, प्रसाद आदि लाकर देते हुए कहा, "बहू (सुमति) को दो और तुम भी लो।" सुमति को शीघ्र ही स्कूल लौटना था इसलिए थोड़ी देर बाद माँ को प्रणाम कर उस दिन हम लोगों ने विदा ली। माँ ने कहा, "फिर आना।" केवल पाँच मिनट के लिए भेंट हुई थी। मन की साध मिटी नहीं। अतृप्त हृदय लेकर मैं घर लौटी।

११ फरवरी, १९११

माँ उस दिन बलराम बाबू के यहाँ गयी थीं। मैं उद्बोधन आफिस पहुँचकर उनकी राह ही देख रही थी कि वे वापस लौटीं। मेरे प्रणाम करके उठते ही वे मुस्कुराते हुए बोलीं, "किसके साथ आयी हो?"

मैंने कहा, "अपने एक भाँजे के साथ।"

माँ – अच्छी हो ? बहू अच्छी है ? इतने दिनों से आयी नहीं ? मैं सोच रही थी – कहीं बीमार तो नहीं पड़ गयी।

मैं विस्मित होकर सोचने लगी – केवल एक दिन की ही पाँच मिनट की भेंट, उसी से माँ को हम लोगों की याद बनी हुई है। यह सोच आनन्द से आँखें भर आयीं।

माँ – (मेरी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखती हुई) तुम आयी हो, इसलिए वहाँ (बलराम बाबू के घर) बैठे मेरा मन अस्थिर हो उठा था।

मैं एकदम अवाक हो गयी।

माँ के शिशु भतीजे (खुदे) के लिए सुमति ने दो ऊन की टोपियाँ दी थी। वह सामान्य सी वस्तु भी माँ को देने से वे बडी प्रसन्न हुईं। तख्त के ऊपर बैठकर वे बोली, "तुम आओ, यहाँ बैठो मेरे पास।" मैं उनके पास बैठी। माँ स्नेह से कहने लगीं,

"बेटी, ऐसा लगता है जैसे पहले और भी तुम्हें कितनी बार देखा है, जैसे बहुत पुरानी जान-पहचान हो।"

मैंने कहा, "मैं क्या जानूँ माँ, केवल एक दिन पाँच मिनट के लिए आयी थी।"

माँ हँसने लगीं और हम दोनों बहनों के प्रेम और भक्ति की प्रशंसा करने लगीं। पर मैं यह नहीं जानती कि हम उन बातों की कितनी योग्य थीं। क्रमशः अनेक स्त्री-भक्तों का आना प्रारम्भ हुआ। सभी भक्तिभाव से पूर्ण माँ के आनन्द भरे, प्रेमपूर्ण मुख की ओर जिस प्रकार एक दृष्टि से निहार रही थीं, वैसा दृश्य मैंने और कभी नहीं देखा। मैं भी मुग्ध हो वही देख रही थी कि उसी समय घर लौटने के लिए गाड़ी आने की सूचना मिली। माँ तब उठकर हाथ में प्रसाद ले 'खाओ, खाओ' कहकर प्रसाद मेरे मुँह के पास ले गयीं। इतने लोगों के बीच अकेले खाने में शरमाते हुए देखकर बोलीं, "शरमाने की क्या बात है ? लो।" तब मैंने हाथ फैलाकर उसे ग्रहण किया। "तो माँ, मैं आती हूँ", यह कहकर मैंने माँ से विदा ली तो माँ ने कहा, "आओ बेटी आओ। फिर आना। अकेली उतरकर जा पाओगी तो ? क्या मैं आऊँ?" यह कहकर वे सीढ़ी तक साथ आयीं। मैंने, कहा, "मैं चली जाऊँगी माँ, आप और न आयें।" माँ ने यह सुनकर कहा, "अच्छा, एक दिन सबेरे आना।" मैं तृप्त हृदय लेकर वापस लौटी। सोचने लगी, यह कैसा अद्भुत स्नेह !

१४ मई, १९११

आज जाकर प्रणाम करते ही माँ ने कहा, "आ गयी बेटी, मैं सोच रही थी – क्या हो गया, क्यों नहीं आ रही हो। इतने दिनों तक आयी क्यों नहीं ?"

मैंने कहा, "यहाँ नहीं थी माँ, मैके गयी थी।"

माँ – बहू (सुमति) क्यों नहीं आती है ? क्या पढ़ाई-लिखाई के कारण ?

मैं – नहीं, बहनोई यहाँ नहीं थे ।

माँ – वह तो स्कूल जाती है । अच्छा, ये लोग संसार-धर्म का पालन करते हैं तो ?

मैंने कहा, "किसे संसार कहते हैं और किसे धर्म – वह मैं क्या जानूँ माँ, वह तो आप ही जानती हैं ।" माँ थोड़ी हँसीं ।

"कैसी गरमी है," यह कहकर माँ एक पंखा देकर कहने लगीं, "अहा, खाना खाकर ही चली आ रही हो, अब मेरे पास थोड़ा सो लो ।"

माँ के लिए नीचे चटाई बिछा दी गयी थी । उनके बिछाने पर सोने में संकोच करते देखकर वे बोलीं, "इससे क्या हुआ बेटी, सोओ, मैं कहती हूँ - सोओ ।" अन्ततः मुझे सोना पड़ा । माँ को झपकी आते देख मैं चुपचाप पड़ी रही । इसी समय दो - एक स्त्री-भक्त और बाद में दो संन्यासिनियाँ आयीं – एक प्रौढ़ा और दूसरी युवती । माँ आँख बन्द किये ही कहने लगीं, "कौन, गौरदासी आयी हो ?"

युवती ने कहा, "आपने कैसे जान लिया, माँ ?"

माँ ने कहा, "मुझे लगा ।" थोड़ी देर बाद वे उठ बैठीं ।

युवती ने कहा, "बेलूरमठ गयी थी । प्रेमानन्द स्वामीजी ने खूब खिला दिया है । उनके रहने पर तो बिना खाये लौटना सम्भव ही नहीं ।" युवती ने सिन्दूर नहीं लगाया देखकर माँ ने जरा डाँटा ।

बाद में श्री माँ से मेरे बारे में जानकर गौरी माँ ने मुझे एक दिन अपने आश्रम में आने के लिए कहा । वे बोली, "वहाँ पचास-साठ लड़कियों को पढ़ाया जाता है । क्या तुम सिलाई

जानती हो ?" मेरे कहने पर कि थोड़ा बहुत जानती हूँ, उन्होंने अपने आश्रम की बालिकाओं को सिखाने के लिए कहा।

माँ का आदेश पाकर मैं एक दिन गौरी माँ के आश्रम में गयी। उन्होंने खूब स्नेह-सत्कार किया और रोज एक-दो घंटे आकर लड़कियों को पढ़ा जाने का अनुरोध किया।

मैंने कहा, "सामान्य शिक्षा प्राप्तकर शिक्षिका बनना तो बिडम्बना है। आप क, ख पढ़ाने को कहिए तो पढ़ा दूँगी।" पर गौरी माँ किसी प्रकार भी छोड़नेवाली नहीं थी, अतः बाध्य हो स्वीकार करके जाना पड़ा।

एक दिन स्कूल की छुट्टी होने पर गौरी माँ के आश्रम से होकर श्री माँ के दर्शनों के लिए गयी। गरमी का समय था। उस दिन जरा थक भी गयी थी। देखती हूँ कि माँ स्त्री-भक्तों के बीच घिरी हुई बैठी हैं। मेरे प्रणाम करते ही मेरे चेहरे की ओर देखकर वे तुरन्त एक पंखा लाकर मुझे हवा करने लगीं। उन्होंने अधीर होकर कहा, "तुरन्त शरीर से कुरती निकाल लो, शरीर को हवा लगने दो।" उनका कैसा अपूर्व स्नेह-प्यार, इतने लोगों के बीच कैसी देखभाल ! सबको अपनी ओर देखते मुझे बड़ी लज्जा आयी। पर माँ को अधीर देख मुझे कुरती निकालनी ही पड़ी। मैं उनसे जितना ही कहती कि पंखा मुझे दे दीजिए, मैं स्वयं हवा कर लूँगी, उतना ही वे स्नेह में भरकर कहने लगीं, "रहने दो, रहने दो, थोड़ी शीतल हो लो।" उसके बाद प्रसाद और एक ग्लास जल पिलाकर ही वे शान्त हुईं। स्कूल की गाड़ी खड़ी थी इसलिए, दो चार बातें कहकर मैं वापस लौटी। (क्रमशः)

विवेकानन्द ते नमः

रवीन्द्रनाथ गुरु
राजबोड़ा सम्बर, सम्बलपुर (उड़ीसा)

अखण्डानन्दरूपाय धर्मामृतप्रदायिने ।
सत्यज्योतिः प्रदीपाय विवेकानन्द ते नमः ॥

आत्मानन्दविधानाय वेदान्ततत्त्वदर्शिने ।
रामकृष्णाङ्घ्रिभक्ताय विवेकानन्द ते नमः ॥

इष्टदाय नरेन्द्रायऽखिलशास्त्रार्थबोधिने ।
कर्मवीराय धीराय विवेकानन्द ते नमः ॥

ईड़ास्पदपदाब्जाय विश्वविख्यातकीर्त्तये ।
ध्यानसिद्धाय बुद्धाय विवेकानन्द ते नमः ॥

उदधिसदृशोदार चरिताय महर्षये ।
स्थितप्रज्ञाय वेद्याय विवेकानन्द ते नमः ॥

ऋतसत्यतपोव्रतधारिणे दुःस्थबन्धवे ।
राष्ट्रजीवनदेवाय विवेकानन्द ते नमः ॥

एतस्मिन् सततोत्थानमन्त्रदाय शिवात्मने ।
गुरवे ज्ञानसूर्याय विवेकानन्द ते नमः ॥

ऐश्वर्यासक्तिहीनाय लोककल्याण कारिणे ।
परमार्थान्तरङ्गाय विवेकानन्द ते नमः ॥

ॐकारशक्तियुक्ताय प्रबुद्धभारतात्मने ।
आत्मैक्यसौख्यकन्दाय विवेकानन्द ते नमः ॥

औषधज्ञाय संसारशोकरोगस्य धीमते ।
प्रेमिणे नीतिनिष्ठाय विवेकानन्द ते नमः ॥

आविष्कारक मैक्सिम

स्वामी विदेहात्मानन्द

सर हिरेम स्टिवेन्स मैक्सिम (१८४०-१९१६ ई.) अमेरिका के एक प्रसिद्ध आविष्कारक थे। उनकी विलक्षण वैज्ञानिक प्रतिभा के कारण १८७८ ई. में उन्हें संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रथम विद्युत कम्पनी का प्रमुख इंजीनियर नियुक्त किया गया था, जहाँ पर कार्य करते हुए उन्होंने बल्बों में उपयोग किये जाने के हेतु कार्बन-तन्तु का उत्पादन करने की एक विशेष पद्धति का विकास किया था। १८८१ ई. में उन्होंने पेरिस मेले में एक विद्युत-चाप नियन्त्रक यंत्र प्रदर्शित किया। १८८९ से १८९४ ई. के दौरान उन्होंने एक वायुयान का निर्माण किया, जो कि ४० मीटर लम्बा, ३ टन वजनी तथा १५० अश्व-शक्ति के दो वाष्प-इंजनों से युक्त था। परीक्षण उड़ान के समय पहली बार धरती से उठते ही यह वायुयान ध्वस्त हो गया था। उन्होंने यूरोप तथा अमेरिका में अपने सैकड़ों आविष्कार पेटेंट कराये थे, जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण था - मशीनगन। इसका विकास करने के हेतु वे लन्दन में जा बसे थे। १८८४ ई. में उन्होंने प्रथम सन्तोषजनक पूर्णतया स्वचालित मशीनगन बनायी, जिसमें विस्फोट के धक्के से ही खाली कारतूस बाहर आ जाता था और घोड़ा पुनः चढ़ जाता था। इसकी कार्यक्षमता में वृद्धि करने के लिये उन्होंने कारबाइड नामक एक धुम्र-रहित नयी बारूद की भी खोज की थी। बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के लिए उन्होंने इंग्लैंड में मशीनगन का कारखाना लगाया। कुछ ही वर्षों के भीतर विश्व की सभी प्रमुख सेनाएँ मैक्सिम गन या उससे मिलती-जुलती मशीनगनों से लैश हो गयीं। ब्रिटिश सेना में यह १८८९ ई. में स्वीकृत हुआ था।

१९०१ ई. में सरकार ने उन्हें 'सर' की उपाधि से विभूषित किया।

● ☆ ☆

विश्व धर्मेतिहास सम्मेलन में भाग लेने के लिए स्वामी विवेकानन्द ३ अगस्त १९०० ई. को पेरिस पहुँचे। सम्मेलन में भाग लेने के अतिरिक्त उन्होंने वहाँ आये हुए विश्व भर के अनेक बुद्धिजीवियों के साथ चर्चा आदि करते हुए लगभग तीन महीने बिताये थे। तदुपरान्त उनकी आस्ट्रिया, तुर्की, यूनान, मिस्र आदि देशों का भ्रमण करने की योजना थी। वहीं पर सम्भवतः अक्टूबर के किसी दिन श्री मैक्सिम स्वामीजी से मिलने को आये थे। इसके पहले वे स्वामीजी के ग्रंथ तथा समाचार-पत्रों में उनके क्रिया-कलापों के वर्णन पढ़कर अत्यन्त प्रभावित हुए थे, तथा उनसे मिलने व वार्तालाप करने को इच्छुक थे। पेरिस मेले के समय अवसर देखकर वे स्वामीजी से मिलने आये और क्रमशः उनके बीच घनिष्ठता स्थापित हो गयी।

पेरिस से प्रस्थान करने के कुछ ही दिनों पूर्व स्वामीजी अपनी यूरोप यात्रा के 'संस्मरण' में लिखते हैं – "पेरिस़ नगरी से मित्रवर मैक्सिम ने अनेक स्थानों के लिये पत्र आदि एकत्र कर दिये हैं, ताकि सभी देश ठीक तरह से देखे जा सकें। मैक्सिम प्रसिद्ध 'मैक्सिमगन' के निर्माता है – जिस तोप से लगातार गोले चलते रहते हैं, अपने आप ही ठस जाते हैं, आप ही छूट जाते हैं, जिसका विराम नहीं। (वे) तोपों की बातें ज्यादा करने पर चिढ़ते हैं, कहते हैं, 'क्यों महाशय, मैंने क्या इस आदमी मारनेवाले कल को छोड़कर और कुछ भी नहीं किया है ?' मैक्सिम चीन भक्त हैं, भारत भक्त हैं, धर्म व दर्शनादि के सुन्दर लेखक हैं। मेरी पुस्तकें पढ़कर बहुत दिनों से मुझ पर अनुराग रखते हैं – अतीव

अनुराग । मैक्सिम राजे-रजवाड़ों को तोप बेचते हैं, सब देशों में जान-पहचान है, लेकिन उनके घनिष्ठ मित्र हैं ली-हुं-चांग, विशेष श्रद्धा चीन पर है, धर्मानुराग कन्फूशी मत पर है । चीनी नाम से कभी-कभी अखबारों में क्रिस्तान पादरियों के विरुद्ध लिखते हैं - वे लोग चीन क्या करने जाते हैं, क्यों जाते हैं ? इत्यादि; मैक्सिम पादरियों का चीन में धर्म-प्रचार बिल्कुल भी नहीं सह सकते । मैक्सिम की गृहिणी भी ठीक वैसी ही हैं, चीन-भक्त और क्रिस्तानों से घृणा करने वाली, लड़के-बच्चे नहीं हैं, वृद्ध आदमी हैं, धन अथाह है ।"[१]

फिर २२ अक्तूबर को स्वामीजी ने इस प्रसंग में श्रीमती ओलीबुल को एक पत्र में लिखा – "बन्दूक के लिए प्रसिद्ध मि. मैक्सिम की मेरे प्रति काफी रुचि है और वे चीन तथा चीनियों के बारे में अपनी पुस्तक में मेरे अमेरिकी कार्य के बारे में भी कुछ लिखना चाहते हैं । मेरे पास इस समय कोई तथ्य व कागजात नहीं हैं, यदि आपके पास हों, तो कृपया उन्हें दे दें । वे आपसे मिलने तथा इस विषय पर चर्चा करने को आयेंगे ।"[२]

मि. मैक्सिम ने इस प्रकार तथ्य संग्रह कर अपनी पुस्तक में सम्मिलित किया था, पर वह पुस्तक काफी दिनों बाद प्रकाशित हुई । १९१३ ई. में लन्दन से छपी अपनी 'ली-हुं-चांग स्क्रैप बुक' की भूमिका में उन्होंने स्वामीजी की शिकागो धर्म-सभा में उपस्थिति तथा उनके प्रचार-कार्य के प्रभाव का बड़ा ही सजीव वर्णन किया था । वे लिखते हैं– "कुछ ही वर्षों पूर्व शिकागों में एक धर्म-सभा हुई थी । बहुत से लोगों का मत था कि ऐसी चीज असम्भव है, क्योंकि जहाँ पर सभी पक्ष अपने को सत्य तथा औरों को पूर्णतया गलत मानते हैं, वहाँ मेल-मिलाप होना भला कैसे सम्भव है । तथापि इस धर्म-सभा ने अमेरिकी जनता का दस लाख डालर से भी अधिक धन तथा विदेश जानेवाले बहुत से

लोगों का जीवन भी बचा दिया, और यह सब कुछ सम्पन्न हुआ है, सिर्फ एक साहसी व सच्चे व्यक्ति के द्वारा । शिकागो में आयोजित धर्म महासभा की जब कलकत्ते (?)* में घोषणा हुई तो वहाँ के कुछ धनी व्यापारियों (?)* ने अमेरिकनों पर विश्वास करके वहाँ विश्व के प्राचीनतम संघ के एक संन्यासी विवेकानन्द को भेजा । उन संन्यासी का व्यक्तित्व प्रभावशाली था, पाण्डित्य गहन तथा आंग्ल भाषा पर अधिकार वेब्स्टर के समान था । (धर्मसभा में) अमेरिकी प्रोटेस्टेन्टों की संख्या दूसरों की तुलना में काफी अधिक थी, और उन लोगों ने इस मनोभाव के साथ कि 'देखो हमलोग तुम्हें कैसे नेस्तनाबूद करते हैं' - सोचा था कि बाजी बड़ी आसानी से उन्हीं के हाथ लगेगी । अत्यन्त आत्मविश्वास के साथ उन्होंने (सभा की) कार्यवाही प्रारम्भ की, परन्तु उन लोगों के कथन में वही पुराना घिसा-पिटा राग अलापा गया था, जो कि नोवा स्कोरिया से कैलीफोर्निया तक की सभी छोटी-मोटी बस्तियों तक में बारम्बार दुहराया जा चुका था । अतः वह किसी का भी ध्यान न आकर्षित कर सका, किसी को भी उसमें रुचि न थी । परन्तु जब विवेकानन्द ने बोलना शुरू किया तो उन्हें लगा कि (मानो) उनको एक नेपोलियन का सामना करना पड़ेगा । उनका पहला व्याख्यान ही एक 'दिव्य रहस्योद्घाटन' (Revelation) से कम न था । संवाददाताओं ने अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक उसका एक-एक शब्द नोट किया और तार द्वारा पूरे देश में प्रेषित कर दिया और इस प्रकार यह हजारों समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ । विवेकानन्द उस काल के सिंह हुए । शीघ्र ही बहुत से लोग उनके अनुयायी हो गये । उनके व्याख्यानों के लिए आनेवाले श्रोतागण किसी भी हॉल में न समा

* वस्तुतः में मद्रास के नवयुवकों ने उन्हें भेजा था ।

पाते थे । अब तक वे लोग एशिया के तथाकथित दरिद्र व तमसाच्छन्न गैर-ईसाइयों को धर्मान्तरित करने के लिये व्यर्थ की औरतें, अर्ध-शिक्षित मूर्ख आदमी तथा करोड़ों डालर भेजते रहे है; और आज उन्हें मिला है उन पतित लोगों का एक नमूना, जिसके धर्म व दर्शन का ज्ञान उस देश के सभी लोगों तथा मिशनरियों से भी अधिक था । यह प्रथम अवसर ता, जबकि धर्म उन्हें रुचिकर प्रतीत हुआ था । उन लोगों को इसमें इतना कुछ मिला, जितना वे सपनों में भी न सोच सकते थे, (उनके साथ) तर्क करना असम्भव था । वे लोगों के साथ ऐसे ही खेलने लगे जैसे बिल्ली चूहों के साथ खेला करती है । वे लोग अत्यन्त आतंकित हो गये । पर वे भला कर भी क्या सकते थे ? उन्होंने वही किया, जो उनकी सदा से रीति रही है - उन लोगों ने उन्हें शैतान का प्रतिनिधि करार दिया । परन्तु उनका (स्वामीजी का) काम तो पूरा हो चुका था, बीज बोया जा चुका था और अमेरिकी जनता अब विचार करने लगी थी । उन्होंने सोचा, 'इस व्यक्ति के समान लोगों को शिक्षा देने के लिये ऐसे मिशनरियों को भेजना, जो इनकी तुलना में धर्म का क ख ग तक नहीं जानते ! हम अपना धन क्यों बरबाद करें ? नहीं !' और इसका फल यह हुआ कि मिशनरी लोगों की वार्षिक आय में १० लाख डालर से भी अधिक गिरावट आ गई ।''[३] इस विवरण को पढ़कर यह समझ लेना अनुचित होगा कि वे ईसाई मिशनरियों से युद्ध करने को अमेरिका गए थे । स्वामीजी ने उन्हें भारत त्यागने को भी नहीं कहा, पर सिर्फ इतना ही कहा कि वे लोग अमेरिका में भारत के बारे में अपना झूठा प्रचार बन्द कर दें तथा ईसा मसीह के उपदेशों का पालन करते हुए, अपनी धर्मान्धिता को त्यागकर भारतवर्ष की सच्ची सेवा करें ।

मि. मैक्सिम द्वारा लाये हुए परिचय पत्रों की सहायता से स्वामीजी वियना तथा कुस्तुंतुनिया में कई विशिष्ट लोगों से मिल सके थे तथा इससे उनके कार्य में सहायता भी हुई थी। सम्भवत: मैक्सिम ने स्वामीजी के समक्ष चीन जाने का भी प्रस्ताव रखा था। परवर्ती काल में १९०१ ई. के जून में जब स्वामीजी को जापान से श्री ओकाकुरा का निमन्त्रण मिला, उस समय उन्होंने सोचा था कि यदि उनका जापान जाना हुआ तो वे मैक्सिम दम्पति से पत्र लेकर चीन भी जायेंगे और वहाँ उनके श्रद्धाभाजन ली हुं चांग से मिलकर चर्चा भी करेंगे। परन्तु स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण स्वामीजी ने जापान यात्रा का अपना कार्यक्रम रद्द कर दिया था।

सर हिरेम मैक्सिम स्वामीजी के अनेक वैज्ञानिक तथा आविष्कारक मित्रों में से एक थे। उनका एशिया तथा उसकी सभ्यता, संस्कृति से विशेष लगाव था। स्वामीजी के अमेरिकी कार्य के बारे में उनका विवरण पढ़कर हम सहज ही यह अनुमान लगा सकते हैं कि उन्हें 'तूफानी-हिन्दू' की आख्या क्यों दी गई थी।

१. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८ (पृ. २०४-५)

२. Prabuddha Bharata, 1977 (P. 94)

३. Marie Louise Burk, Swami Vivekananda in the West, Vol. I (P.p. 138-40).

४. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, (पृ. ३७६)

स्वामी शिवानन्द से वार्तालाप

संकलक : स्वामी मंगलानन्द

(महापुरुष शिवानन्द रामकृष्ण संघ के द्वितीय महाध्यक्ष थे। उनकी आध्यात्मिक चर्चाएँ 'आनन्दधाम की ओर' पुस्तक में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत है उनका हिन्दी में अप्रकाशित एक वार्तालाप, जो बँगला मासिक 'उद्बोधन' के ३६ वें वर्ष के पौष, १३४१ अंक से गृहीत तथा अनुदित हुआ है। इसमें उन्होंने स्वामी विवेकानन्द के परिव्राजक जीवन की कुछ रोचक घटनाओं का वर्णन किया है। - स.)

जनवरी १९२५

स॰ - महाराज – "आप लोगों के भ्रमण की कहानी कुछ बताइए।" स्वामी शिवानन्द – "जो वृत्तान्त तुमने पढ़ा है वही यथेष्ट है। पुरानी बातों की क्या आवश्यकता ? एक समय वह हुआ था, परन्तु अब तो शुद्ध कर्म के वृत्तान्त ने हम लोगों को खींच लिया है। स्वामीजी (विवेकानन्द) जब तपस्या करने ऋषीकेश गए तो मानो किसी शक्ति ने ठेलकर उन्हें वहाँ से निकाल दिया। इसके बाद वे राजपुताना के अलवर, जयपुर आदि स्थानों का भ्रमण करने लगे। वहाँ वे अनेक राजा-महाराजाओं के संग रहे। घूमते घूमते वे पोरबन्दर पहुँचे। तब उस स्टेट का कोई राजा न था। वहाँ फैली अव्यवस्था के कारण सरकार ने हरिशंकर राव (शंकर पाण्डुरंग पण्डित) को उस राज्य का प्रशासक नियुक्त किया था। हरिशंकर राव बड़े विद्वान तथा सज्जन व्यक्ति थे। उन्होंने यूरोप के सभी देशों का भ्रमण किया था और बहुत अच्छे समाज में उनका मेलजोल था। वे जर्मन, फ्रेंच, इटैलियन तथा और भी कई भाषाएँ बोल सकते थे। अपने घर में उन्होंने एक बड़ा और अद्भुत ग्रन्थालय बना रखा था। बड़े पढ़ाकू आदमी थे न, इसीलिए उनका ग्रन्थालय देखकर स्वामीजी के मन में लोभ का उदय हुआ। हरिशंकर बाबू के सामने यह इच्छा व्यक्त करने पर वे बोले - आप जितने भी दिन चाहें, यहाँ रहकर पढ़िए। उन्हें संस्कृत का अच्छा ज्ञान था। एक

दिन उन्होंने स्वामीजी से कहा -'देखिए स्वामीजी, पहले मुझे संस्कृत शास्त्र-वास्त्र पढ़कर लगता था कि ये सब मस्तिष्क की कल्पनाएँ मात्र हैं; जिसके मन में जो आया, वही लिख गया। परन्तु आपको देखकर और आपकी बातें सुनकर अब ऐसा लगता है कि शास्त्र आदि सब ठीक हैं। मैंने यूरोप में देखा है कि वहाँ के लोग हमारे देश की बातें, शास्त्रों की बातें जानने के इच्छुक हैं। परन्तु उन्हें उपयुक्त व्यक्ति नहीं मिलता। आप यदि वहाँ जायँ तो बड़ा अच्छा हो।' देखो न, किस प्रकार कार्य आरम्भ हो रहा है। स्वामीजी बोले, 'अच्छा तो है। मैं ठहरा एक संन्यासी – मेरे लिए यह देश क्या और वह देश क्या ! आवश्यकता हुई तो जाऊँगा।' हरिशंकर बाबू ने कहा, 'उन देशों में जाने के लिए फ्रांसीसी भाषा सीखनी होगी।' उन दिनों पाश्चात्य देशों के उच्च समाज में फ्रांसीसी भाषा ही चलती थी। अब भी थोड़ा-बहुत ऐसा ही है, परन्तु अब वहाँ अंग्रेजी भाषा का बोलबाला हो गया है। स्वामीजी ने कहा, 'कैसे सीखूँ ?' हरिशंकर बाबू ने कहा, 'मैं सिखाऊँगा।' स्वामीजी ने वहाँ काफी फ्रांसीसी सीख ली। मैं उन दिनों आलमबाजार मठ में था। स्वामीजी ने वह मठ देखा तक नहीं था। उनसे भेंट हुए लगभग दो साल हो गए थे। एक दिन सहसा चार पृष्ठों का उनका बड़ा सा पत्र आ पहुँचा। शशी (स्वामी रामकृष्णानन्द) फ्रांसीसी भाषा के दो-चार शब्द जानता था। बारीकी से देखने के बाद उसने कहा, 'यह नरेन का पत्र है।' त्रिगुणातीत भी थोड़ी सी फ्रांसीसी जानता था। कलकत्ते के अघोर चटर्जी से उसने सीखी थी। हम लोग अघोर बाबू के पास गए। वे बड़े विद्वान थे और हैदराबाद स्टेट कॉलेज के प्राचार्य थे। वे पढ़कर हमें बँगला में बताने लगे। पत्र में जो लिखा था, वह सब अब भूल गया है। हमने पूछा, 'इसकी फ्रांसीसी भाषा कैसी है ?' उन्होंने कहा, 'अच्छी है, पर बहुत उच्च कोटि की नहीं

है। तथापि इसे खराब नहीं कहा जा सकता।' तब हमें पता चला कि स्वामीजी ने फ्रांसीसी भाषा सीख ली है। इसी प्रकार गोवा आदि अनेक राज्यों का भ्रमण करते हुए स्वामीजी रामनाद पहुँचे। रामनाद के राजा अच्छे विद्वान और मद्रास विश्वविद्यालय के ग्रेजुएट थे। वे बहुत सी पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ा करते थे। उन्होंने ही समाचार-पत्र में देखकर कहा, 'स्वामीजी, अमेरिका में एक बहुत बड़ा काम चल रहा है। विभिन्न देशों के पण्डित और धर्माचार्य विभिन्न सम्प्रदायों की ओर से धर्मसभा में भाग लेने शिकागो जा रहे हैं। यदि हिन्दू धर्म की ओर से आपके समान विद्वान व्यक्ति वहाँ जाय, तो बड़ा अच्छा होगा।' स्वामीजी ने कहा, 'बात तो ठीक है। मैं ठहरा संन्यासी – मेरे लिए यह देश क्या और वह देश क्या ? पैसा मिले तो चला जाउँगा।' इस पर राजा उन्हें दस हजार रुपये देने को राजी हुए। अस्तु, स्वामीजी वहाँ से मद्रास गए। वहाँ पर वे असिस्टेण्ट एकाउण्टेण्ट जनरल मन्मथ भट्टाचार्य के घर पर ठहरे। सुब्रह्मण्य अय्यर उस समय वहाँ के एक विख्यात वकील थे। वे तथा और भी अनेक अच्छे अच्छे विद्वान उनसे (स्वामीजी) मिलने आया करते थे। हमने बाद में उन लोगों के मुख से सुना है कि वहाँ इस प्रकार कभी किसी के पास इतनी बड़ी संख्या में अच्छे अच्छे लोग नहीं गए। उन लोगों ने भी स्वामीजी को अमेरिका भेजने की इच्छा व्यक्त की। स्वामीजी ने रुपये की बात उठाई। उन लोगों ने जब रामनाद के राजा को रुपयों की बावत लिखा, तो उत्तर में राजा ने लिख भेजा, 'स्वामीजी, मैं रुपये भेजने में असमर्थ हूँ। इस समय मैं रुपये नहीं भेज सकूँगा।' एक अखबार के सम्पादक, जो हमारे ही देश का आदमी था, ने उनसे कह दिया था, 'महाराज, आप रुपये देकर स्वामीजी को अमेरिका भेजेंगे ! वे तो एक बंगाली विद्वान हैं, विदेशों में जाकर यदि वे राजनीतिक विचारों

का प्रचार करने लगे, तो फिर राजा का ही दोष माना जाएगा ।' उन्हीं दिनों से विभिन्न प्रदेश के लोगों के मन में ऐसी धारणा है कि बंगाली बड़ी राजनीतिक जाति है । इसीलिए रामनाद के राजा ने डरकर ऐसा लिखा था । स्वामीजी बड़े नाराज होकर मद्रास के लोगों से बोले, 'मैं यहाँ से चला जाऊँगा ।' इससे बल्कि अच्छा ही हुआ – एक व्यक्ति के नाम पर वे क्यों जाते – ठाकुर की इच्छा थी कि उनके देशवासी ही उनके जाने की व्यवस्था करें । इधर मन्मथ बाबू ने स्वामीजी की बात सुनी और सुब्रह्मण्य अय्यर आदि से बोले, 'ऐसा व्यक्ति यदि हम लोगों के बीच से चला ज़ाय, तो यह बड़े दुःख की बात होगी । हमीं लोग क्यों न दस हजार रुपये एकत्र कर दें ?' सुब्रह्मण्य और मन्मथ बाबू स्वयं पाँच-पाँच सौ रुपये देकर बाकी रुपयों की व्यवस्था में लग गए ।

"मन्मथ बाबू की स्वामीजी के साथ पहली भेंट इस प्रकार हुई । मन्मथ बाबू को कामकाज के सिलसिले से सभी राज्यों में जाना पड़ता था । इन दिनों वे जिस भी राज्य में जाते, वहाँ के लोग पूछते, 'महाशय, क्या आप बता सकते है कि एक साधु जो बड़े अद्भुत विद्वान हैं, गुजराती-मराठी-संस्कृत[१] आदि विभिन्न भाषाओं में बातें करते हैं, वे कौन हैं ?' त्रावंकोर आकर मन्मथ बाबू की स्वामीजी से भेंट हुई । स्वामीजी के साथ वार्तालाप करके वे समझ गए कि निश्चित रूप से ये वही साधु हैं जिनके बारे में वे विभिन्न स्थानों पर सुनते आ रहे थे । मन में आया कि देखूँ ये साधु कौन हैं ? स्वामीजी के साथ वार्तालाप के समय जो दो-चार बातें उनके मुख से प्रकट हुईं, उन्हीं से मन्मथ बाबू समझ गए कि ये कौन हैं । इसके बाद उन्होंने धीरे से यह भी पता कर लिया कि ये किसके पुत्र हैं, कहाँ घर है और कितने साल से ग्रेजुएट

१. जहाँ तक हमें विदित है स्वामीजी गुजराती तथा मराठी भाषा नहीं जानते थे । इस भ्रमण के दिनों में वे अधिकांशतः हिन्दी, अंग्रेजी अथवा संस्कृत में वार्तालाप किया करते थे । - स.)

हैं। अब मन्मथ बाबू उन्हीं सब राज्यों के राजाओं-महाराजाओं को पत्र लिखकर रुपयों की व्यवस्था करने लगे। उन लोगों ने देखा कि सरकार के अनेक बड़े बड़े कर्मचारी भी दे रहे हैं – अतः यदि कोई संकट आया तो सब एक साथ ही उसे झेलेंगे। रामनाद के राजा ने भी पाँच सौ रुपये भेजे, उस अंचल में अनेक लोग उनके शिष्य हुए थे।

"हाँ, तो कह रहा था कि स्वामीजी ध्यान-तपस्या में डूबे नहीं रह सके। वे ही महाशक्ति जगदम्बा – जो श्रीरामकृष्ण के रूप में अवतीर्ण हुई थीं – उन्होंने किस प्रकार स्वामीजी को कार्य में झोंक दिया। वे क्या केवल संन्यासी मात्र थे! वे योगिराज थे। इच्छा होने से ही तो ध्यान लगाकर रह सकते थे। उनकी एक एक बात पर कितने संन्यासी उत्पन्न हुए। वे चुपचाप एक स्थान पर बैठे रह सकते थे। माँ तुम सभी लोगों के माध्यम से कार्य करा रही हैं। तुम लोगों से क्या कहूँ। सबके साथ हम लोगों को भी खींचकर उन्होंने कार्य में लगा दिया है। उन्होंने जिसको भी पुकारा है, वह धन्य है।

"त्याग-तपस्या क्या केवल एक ही प्रकार से अभिव्यक्त होती है! तुम लोग जो ये कार्य कर रहे हो – यह क्या कम त्याग-तपस्या है! तुम लोग घर-बार, माता-पिता सबको छोड़कर आए हो। विद्या की उन्नति आदि छोड़कर यह सब सेवा कर रहे हो – यह क्या साधारण बात है। जो लोग कामकाज छोड़कर तपस्या कर रहे है – वे अपने लिए काम कर रहे हैं। बहुत अच्छा! तुम लोग अपने साथ और भी दस लोगों का काम कर रहे हो। काम करने से ही थोड़ा-बहुत अभिमान आएगा। वे ही घटनाचक्र में डालकर वह सब दूर कर देंगे। काम ही काम सिखाता है।"

भगवत्प्राप्ति का मार्ग

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के परमाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज का यह बँगला व्याख्यान सरिसा आश्रम में ४ वर्ष पूर्व हुए श्रीरामकृष्ण मन्दिर में प्राण-प्रतिष्ठा समारोह के अवसर पर निकली स्मारिका में प्रकाशित हुआ था। इसके विषयवस्तु की उपादेयता को देखते हुए, वहीं से 'विवेक-ज्योति' के लिए इसका अनुवाद किया है स्वामी ज्ञानातीतानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण आश्रम, राजकोट के अन्तेवासी हैं। - स.)

मन को किस प्रकार भगवान की ओर उन्मुख किया जाय, यह प्रश्न प्रायः ही हमारे मन में उठता रहता है। मन सदैव चंचल बना रहता है। उसे संयत करके भगवान की ओर लगाना अत्यन्त कठिन कार्य है। श्रीरामकृष्ण सरसों की पोटली का उदाहरण दिया करते थे। जैसे बिखरे हुए सरसों के दानों को इकट्ठा करके फिर से पोटली बाँधना अत्यन्त कठिन है, वैसे ही संसार में चारों ओर बिखरे हुए मन को एकाग्र करके भगवान में लगाना जितना कठिन कार्य है, जो लोग इसके लिए प्रयास कर रहे हैं, वे ही समझ सकते हैं! इसीलिए हमारे शास्त्रों में नियम है 'युवैव धर्मशीलः स्यात्' युवावस्था में ही धर्मशील होना चाहिए! यौवन ही भगवत्चिन्तन तथा धर्मपथ की ओर अग्रसर होने का उकृष्ट समय है! यही यौवन अन्य प्रकार से बीत जाता है, अनेक तरफ दृष्टि लगी रहती है – भोग-विलास, महत्वाकाक्षा, नाम-यश प्राप्त करने की चेष्टा – यही सब लेकर यौवन बीत जाता है! और उसके बाद? श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि मन का सारा तेज चले जाने के बाद क्या करोगे? स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने भी कहा है – तीस वर्ष के भीतर सब कर लेना चाहिए। तीस वर्ष जिनका पूरा नहीं हुआ है उनके लिए तो ठीक है, किन्तु तीस के ऊपरवालों का क्या होगा? उनके लिए तो यह खेद की बात है। जो समय चला गया, वह तो लौटकर आएगा नहीं, आचार्य शंकर के एक स्तोत्र में है – अस्सी वर्ष की मेरी उम्र हो गयी है,

अब महिष के घण्टे के शब्द से मेरे प्राण काँपते हैं। महिष को यमराज का वाहन कहते हैं। उनकी घण्टाध्वनि का अर्थ मृत्यु आ रही है। अब यदि कोई उसी भय से आकुल है, तो मन भगवान की ओर कैसे लगाएगा ? यौवन में जिस उत्साह के साथ साधनापथ में अग्रसर हुआ जा सकता है, प्रौढ़ तथा वृद्धावस्था में वह उत्साह नहीं रह जाता। तरुणाई में शारीरिक तथा मानसिक शक्तियाँ भरपूर रहती हैं। किन्तु उस उम्र में धर्मलाभ की इच्छा बहुत कम लोगों में उत्पन्न होती है। तो फिर उपाय क्या है ? इसका उत्तर गीता में दिया गया है –

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

– "अन्तकाल में भी जो मेरा चिन्तन करते करते देहत्याग करते हैं, वे मेरा भाव अर्थात मुक्ति प्राप्त करते हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।" तो क्या अभी उनकी आवश्यकता नहीं है, अन्त समय में ही आवश्यकता होगी ? एक दृष्टांत है – मान लीजिए एक चोर सेंध लगाकर एक घर में घुसा है। वह जानता है कि पास के कमरे में एक सोने की थाली रखी है। अब क्या वह वहीं बैठा रहेगा या फिर उसके प्राण व्याकुल होंगे कि किस प्रकार इस दीवार को भी तोड़कर सोने की थाली प्राप्त कर लूँ। भगवान यदि वास्तव में काम्य हों, तो वे सोने की थाली से भी अधिक काम्य हैं। इच्छा हो तो प्राप्त कर सकता हूँ, ऐसी यदि मन में आकांक्षा हो, तो क्या उन्हें प्राप्त करने के लिए प्राण सर्वदा आकुल नहीं रहेंगे ? श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "होता है, होगा – इस प्रकार करने से कभी नहीं होगा।" उनको प्राप्त करने की मन में तीव्र इच्छा नहीं रहने से उनकी प्राप्ति कब होगी इसका कोई ठिकाना नहीं। वैसे यह बात भी ठीक है कि जैसे भी, जितनी भी चेष्टा वह कर रहा है, चाहे वह अल्प ही हो, व्यर्थ

नहीं जाएगी । श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि यदि कोई उनकी तरफ एक पग भी अग्रसर हो, तो वह विफल नहीं जाएगा । परन्तु बात यह है कि उनको पाना अत्यन्त आवश्यक है यदि ऐसा बोध हो गया, तो फिर क्या धीरे-धीरे संसार का सब काम पूरा करके तब उन्हें पुकारूँगा ?

कोई कम उम्र में भगवान का नाम लेता है, तो बहुत से लोग कहते है कि वह सब करने की अभी आयु ही कहाँ हुई है ? यह सब अन्तिम अवस्था में किया जाता है । अन्तकाल का अर्थ क्या है – जब और कुछ करने की सामर्थ्य न रह जाय, जब मनुष्य असमर्थ जड़ वस्तु के रूप में परिणत हो जाय, क्या तब भगवान को पुकारने का समय होगा ? जो कहते हैं – अन्तिम समय में करूँगा, उन लोगों का मन कभी उधर जाएगा, ऐसी सम्भावना कम है । इसलिए अन्तिम समय में नहीं, करना है तो अभी से मन को उधर लगाना होगा । अन्यथा नहीं होगा । श्रीरामकृष्ण का एक दृष्टान्त है – नाली खोदकर खेत में पानी लाना है । किसान के द्वारा थोड़ी सी खुदाई होने के बाद ही उसकी पत्नी आकर कहती है कि स्नान, भोजन आदि करने चलो । बाद में आकर खोदते रहना । किसान चला गया । उसकी नाली में पानी कभी नहीं आएगा । और एक दूसरा किसान भी नाली खोद रहा था । उसकी लड़की ने आकर कहा - खाने चलो। वह बोला - अभी कैसे जाऊँ ? पानी आने तक नहीं जाऊँगा । उसके बाद स्त्री ने आकर कहा – आज ही सब करना होगा, ऐसी क्या बात है ? किसान कुदाल लेकर उसको मारने दौड़ा - देखती नहीं मिट्टी सूखी जा रही है, हम सभी भूखे मरेंगे । आज पानी लाकर ही मैं नहाने-खाने जाऊँगा । उसी का पानी आया । जल जब कल कल करता हुआ खेत में जाने लगा, तब किसान ने चैन की सांस लेते हुए कहा – तेल ले आओ, अब स्नान

करूँ। भगवान के लिए तीव्र आकांक्षा होने पर ही ऐसा होता है। इस प्रकार तीव्रता नहीं आने से साधना पथ पर अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। एक एक पग बढ़ते जाना होगा। इसमें अनन्तकाल लग सकता है। परन्तु अनन्त तक भी उनकी प्रतीक्षा करनी होगी। शान्तिराम की कहानी में है – भगवान को वह कब पाएगा ? जिस इमली के पेड़ के नीचे वह रहता है उस पेड़ में जितने पत्ते हैं, उतने जन्म के बाद पाएगा। यह सुनते ही वह आनन्द से नाचने लगा और वे ध्यानस्थ साधु जिनके चारों ओर दीमकों का टीला बन गया था, उनको जब कहा गया कि तुम्हारे अभी और तीन जन्म बाकी हैं, तो उन्होंने हताश होकर पतवार छोड़ दी। तात्पर्य यह कि उनमें धैर्य नहीं था, इसलिए उन्हें तीन जन्म की देरी सहन नहीं हुई।

दोनों चीजों की आवश्यकता है। एक ओर है भगवत्प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा। जितना करता हूँ उससे बहुत अधिक करने की आवश्यकता है। और दूसरा है धैर्य धारण। साधु को तीन जन्म लेने का धैर्य नहीं रहा और वह योगभ्रष्ट हो गया। परन्तु शान्तिराम यह सुनकर कि इस पेड़ में जितने पत्ते हैं, उतने ही जन्म उसे और लगेंगे, तत्काल आनन्दविभोर हो गया और उसे तुरन्त ही भगवान का दर्शन प्राप्त हो गया। परन्तु उसका इतना जन्म हुआ कहाँ ? इसका उत्तर यह है कि समय जीवन से अलग नहीं है, जीवन के भीतर ही उसका परिमाप होता है। एक व्यक्ति थोड़े दिनों में जो कर सकता है, किसी दूसरे को वही करने में बहुत दिन लग सकते हैं। समय का माप ऐसे होगा कि उसके दौरान हमें कितनी उपलब्धि हुई। इसलिए एक क्षण में ही शान्तिराम के इतने जन्मों का भोग हो गया।

भागवत में है कि गोपियाँ भगवान से प्रेम करती थीं, परन्तु उसका कर्मक्षय कैसे हुआ ? जन्म-जन्मातर के पाप-पुण्य का बोझ

हम लोगों की पीठ पर है; ज्ञान होने पर, स्वयं के अकर्ता बोध होने पर पाप-पुण्य का क्षय हो जाता है। परन्तु गोपियों को तो ऐसा बोध हुआ नहीं था, तो फिर उनकी मुक्ति किस प्रकार हुई ? उसका उत्तर देते हुए भागवत कहता है -- भगवान के विरह में, भगवान को न पाने का जो असह्य दुःख उनको हुआ, उसी दुःख के द्वारा उनके समस्त पापों के फल का भोग हो गया और भगवान को पाने का जो आनन्द है, वह इतना तीव्र होता है कि जन्म-जन्मान्तर के पुण्य उसके द्वारा क्षय हो गये। इसीलिए वे पाप-पुण्य से मुक्त हो गईं। योगी अथवा ज्ञानी हुए बिना भी वे भगवत्कृपा का अनुभव कर सकीं।

भगवान के पथ पर चलने के लिए असीम दुःख के भीतर से होकर गुजरना पड़ता है। उस दुःख के साथ संसार के और किसी दुःख की तुलना नहीं हो सकती, यह बात श्रीरामकृष्ण के जीवन से भलीभाँति समझी जा सकती है। जब माँ का दर्शन न मिलने के कारण ठाकुर पछाड़ खाकर धरती पर गिर पड़ते और रोने लगते, तो यह देखकर भीड़ एकत्र हो जाती। कोई कहता -- अहा, लगता है इस आदमी के पेट में पीड़ा हो रही है, इसीलिए ऐसा कर रहा है। यह तीव्र वेदना भगवान को पाने के लिए ही थी। सभी को इस वेदना से होकर जाना पड़ता है। मनुष्य जिस दुःख की तीव्रता की कल्पना भी नहीं कर सकता, भगवान के पथ पर चलनेवाले भक्त को उसी दुःख का भोग करना पड़ता है। इसीलिए भक्त दुःख से बचना नहीं चाहता, बल्कि उसको अंगीकार करता है। साधक जीवन का यही इतिहास है। विषयभोग का सारा आनन्द इस भगवत् आनन्द का एक क्षुद्र अंश मात्र है। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि इस आनन्द को प्राप्त करना साधक का लक्ष्य नहीं है।

बहुत से लोग कहते है कि मन में बड़ी अशान्ति है। वह अशान्ति भगवान के लिए नहीं है, बल्कि इच्छित विषय नहीं मिल रहा है, इसलिए है। हम सोचते हैं कि भगवान के रास्ते पर चलने से वे यह सब देंगे, हम जो कुछ चाहते हैं वह जुटा देंगे, अर्थात् भगवान यहाँ पर उपाय मात्र हैं, लक्ष्य नहीं। हम उन्हें नहीं, बल्कि उनकी सहायता से भोग चाहते हैं। यह भक्ति की बात नहीं है, यह भोगलिप्त मनुष्य की बात है। **यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः** – जिनको प्राप्त करने पर, और कोई भी उपलब्धि उससे बड़ी नहीं प्रतीत होती।

वे ही हमारे एकमात्र लक्ष्य हैं, एकमात्र प्राप्य वस्तु हैं। हम उन्हीं को चाहते हैं, इसके फलस्वरूप दुःख या आनन्द जो भी मिले, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। यही है भगवान के प्रति सच्चा प्रेम। वे अपने प्रतीत होने पर, आत्मा के भी आत्मा के रूप में बोध होने पर, ऐसा ही प्रेम उत्पन्न होता है, जिसे अहैतुकी प्रेम कहते हैं। इसका दृष्टान्त भागवत में दिया गया है –

आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥ १/७/१०

– जो बन्धनमुक्त हैं, आत्मा में ही रमण करनेवाले हैं, ऐसे मुनि भी बिना किसी कामना के भगवान की अहैतुकी भक्ति किया करते हैं। श्री हरि के गुण ही ऐसे है कि सकाम-निष्काम सभी मनुष्य उनकी सेवा करना चाहते है। इस भक्ति का उद्देश्य नहीं, कोई कारण नहीं। आनन्द पाने के लिए भी मैं उनसे प्रेम नहीं करता, वे भगवान है इसलिए उनसे प्रेम करता हूँ। वे हमारी आत्मा हैं। जैसे आत्मा को छोडकर हम एक क्षण भी नहीं रह सकते वैसे ही भगवान को छोड़कर हम एक क्षण भी नहीं रह सकते। फिर उन्हें पाने के लिए चाहे जितना भी दुख क्यों न भोगना पड़े भोगूँगा – यही है भक्त का मनोभाव। एक भजन में है - 'कोटि जन्म जितने

भी आँसू बहे हमारे। सफल उन्हें ही करने क्या आए हे नाथ !' दुख से भला कौन प्रेम करता है ? परन्तु दुख यदि भगवान की ओर ले जाए, उनकी प्राप्ति का उपाय सिद्ध हो, तो फिर आएँ न असंख्य दुख ! कुन्ती की तरह कहना – हे प्रभो, सुख में तुम्हें भूल जाता हूँ, अतः तुम मुझको निरन्तर दुखों के बीच रखो, ताकि सर्वदा तुम्हारा स्मरण कर सकूँ।

हम साधारण लोग क्या करते है ? भगवान का नाम लेते है और यदि कुछ भी अरुचिकर घट जाता है, तो कहते है – भगवान को इतना पुकारा, तो भी ऐसा हुआ ? मानो भगवान को पुकारने से वैसा कुछ होगा ही नहीं ! भगवान पथ को सहज कर दें, ताकि हम आसानी से जा सकें। यह तो भगवान को नहीं, सुख को चाहना हुआ।

यह संसार नश्वर तथा दुःखमय है। आपात दृष्टि से जो कुछ सुख का कारण प्रतीत होता है, विचार करने पर पता चलता है कि वह दुःख का ही कारण है। हम चाहे जितने भी सुख में क्यों न हों, पर यदिं देखें कि दूसरा कोई हमारे ही समान या हमसे भी अधिक सुखी है, तो उस सुख का भी भोग नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त आज जो सुख हमें प्राप्त है, वह कल भी रहेगा इसकी कोई निश्चितता है क्या ? विचारशील लोग जानते हैं कि आज जो सुन्दर लग रहा है, वही कल असुन्दर प्रतीत होगा।

इन सब बातों को विस्तार से कहें, तो मन में एक तरह की वितृष्णा आ सकती है - परन्तु हमने वितृष्णा उत्पन्न करने के लिए नहीं, बल्कि समस्त तृष्णाओं को भगवान की ओर नियंत्रित करने के लिए, अन्य सभी तृष्णाओं को दूर करने के लिए इस प्रसंग को उठाया है। ठाकुर ने अनेक स्थानों पर जगत् का विश्लेषण करके इसकी असारता दिखाई है, शास्त्रों में भी यह बात विस्तारपूर्वक समझाने की चेष्टा हुई है। किन्तु फल क्या

हुआ ? जो सुख के लिए लालयित हैं, उन्होंने क्या इसे समझा ? नहीं समझा। प्रतिदिन हम देख रहे हैं कि सब कुछ नष्ट होता । रहा है, तो भी सोचते हैं, मैं ठीक रहूँगा और मेरा सब कुछ ठीक रहेगा। मन की इस दृढ़ धारणा का कोई कारण नहीं, कोई युक्ति नहीं। सम्पूर्ण संसार प्रतिपल क्षय होता जा रहा है, तो भी सोचते हैं कि हम लोग कुशल से हैं और आगे भी रहेंगे। पर ऐसा क्या कभी होता है ? जब नहीं होता, तो घात-प्रतिघात पाकर जो भी थोड़ा सा विश्वास है, हम उसे भी खो बैठते हैं और तब कहतें हैं – भगवान हैं ही नहीं, रहते तो ऐसा नहीं होता। सहज सिद्धान्त बन जाता है कि वे हैं ही नहीं। इसलिए कि हमने भगवान को चाहा ही नहीं, संसार के सुख चाहे थे और आशा की थी कि वे सुख स्थाई होंगे। एक श्लोक का प्रायः ही स्मरण हो आता है –

आयुर्नश्यति पश्यतां प्रतिदिनं याति क्षयं यौवनम्।
प्रत्यायान्ति गताः पुनर्नदिवसाः कालो जगद्भक्षकः।
लक्ष्मीस्तोयतरंगभंगचपला विद्युच्चलं जीवितम्।
तस्मान्मां शरणागतं शरणद ! त्वं रक्ष रक्षाधुना॥*

– हे शरणदाता ! हे प्रभो ! मैं तुम्हारा शरणापन्न हूँ, मेरी रक्षा करो। क्यों ऐसा कहता हूँ ? इसलिए कि प्रतिदिन देखते ही देखते आयु चली जा रही है। यौवन का क्षय होता जा रहा है। जो समस्त दिन बीते जा रहे हैं, वे फिर लौटकर नहीं आएँगे। काल समस्त जगत को खा रहा है। जल की तरंगें जिस प्रकार प्रतिक्षण उठती और विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ऐश्वर्य भी अभी है और अभी नहीं। जीवन विद्युत की भाँति चंचल, क्षणभंगुर है। इसलिए मैं तुम्हारी शरण चाहता हूँ। इन सब भोगों की तरफ मैं नहीं जाता, क्योंकि मैं जानता हूँ उनमें कल्याण नहीं है। अतएव हे प्रभो, मेरी रक्षा करो, ताकि मैं भ्रम के पीछे दौड़कर तुम्हें भूल न जाऊँ। यह हुई भक्त की प्रार्थना !

★ श्रीशंकराचार्यकृत शिवापराधभंजनस्तोत्रम् / १३

हम भी यह प्रार्थना उनसे करें कि वे ही हमारे जीवन के लक्ष्य हों, इसलिए नहीं कि वे हमारे लिए सुख-सुविधा कर देंगे, वरन् इसलिए कि वे हमारी आत्मा के आत्मा है।

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(मूल बँगला पत्रों से संकलित तथा अनुदित)

— ३९ —

कर्मयोग के विषय में तुम्हें अनेक नई बातें ज्ञात हुई हैं, यह जानकर आनन्दित हुआ। कर्म सकाम हो या निष्काम, पर भाव यह है –

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ गीता ९/२७

– "जो कुछ करो, जो कुछ खाओ, जो भी यज्ञ, दान या तप करो, हे अर्जुन ! वह सब मुझे अर्पित कर दो।" मन में यही भाव निरन्तर जाग्रत रखना होगा। तुम्हीं मेरे भीतर हो, तुम्हीं मेरे बाहर हो, मैं यन्त्र हूँ तुम चालक हो, जैसा तुम चलाते हो वैसे ही चलता हूँ। यही और क्या ! पर क्या यह एकबारगी हो जाएगा ? अभ्यास करना होगा। करते करते सब ठीक हो जाएगा। तब वे सचमुच ही चालक के रूप में देह-यन्त्र को चलाएँगे। यह बात सत्य है – "माँ काली किसी किसी यन्त्र के साथ भक्तिडोर से बँधी हुई हैं।" सब वे ही कर रही हैं, हम समझ नहीं पाते अतः सोचते हैं कि हम कर रहे हैं और इसीलिए कर्म के द्वारा बद्ध हो जाते हैं। भात की हण्डी में आलू-परवल उछल रहे हैं, देखकर बच्चे सोचते हैं कि ये अपने आप ही उछल रहे हैं। परन्तु जाननेवाले कहते हैं कि नीचे जल रही आग के

तेज से वे उछल रहे हैं आग को खींच लो तो सब ठण्डा हो जाएगा – उसी प्रकार चैतन्यशक्ति के रूप में, क्रियाशक्ति के रूप में वे हमारे भीतर रहकर सब कर रहे हैं। हम समझने में असमर्थ होकर कहते हैं कि हम कर रहे हैं। इस संसार में क्या और भी कोई है ? एकमात्र वे ही विभिन्न रूपों में विराज रहे हैं; उन्हें न समझ पाने, न देख पाने के कारण हम बहुत्व देख रहे हैं। सबके भीतर वे ही हैं। सब कुछ वे ही हैं। यही ज्ञान पक्का हो जाने पर छुट्टी मिल जाती है। 'व्याधगीता' के व्याध ने पूर्वजन्म में ही ज्ञानलाभ कर लिया था, परन्तु प्रारब्ध कर्म बाकी रह जाने के कारण उन्हें व्याध-शरीर प्राप्त हुआ। अतएव वे कर्तव्यबोध से अपनी जाति का कर्म पूरा करते थे। परन्तु वे स्वयं हिंसा आदि नहीं करते थे। दूसरों से मांस लेकर उसका विक्रय मात्र करते थे। महाभारत में ऐसा ही देखने को मिलता है। और 'यस्य नाहंकृतो भावो '* आदि जो लिखा गया है, उस पर थोड़ा विचार करने से ही समझ सकोगे कि अहंकार अर्थात् 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा बोध यदि न रहे तो फिर बन्धन कहाँ से होगा ? 'मैं' ही तो बन्धन की सृष्टि करता है। "मुक्ति होगी कब ? मैं जाएगा तब" – जब 'मैं' ही नहीं रहा, तो फिर बन्धन कहाँ रहा ? नाहं नाहं, तू ही तू ही। जिसका मैं चला जाता है, वह केवल उन्हीं को देखता है; अतः उसका बन्धन कैसा ?

— ४० —

दुर्गापूजा का समय आ गया। महामाई की आराधना कर पाने में ही कल्याण है। माँ स्वयं हृदय में आ जायँ, तो सारी

★ यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ गीता १८/१७
– "जिसमें अहंभाव नहीं है, जिसकी बुद्धि अलिप्त है, वह इस सम्पूर्ण जगत् का हनन करे तो भी, न तो वह हनन करता है और न ही बद्ध होता है।"

गड़बड़ी मिट जाती है – नहीं तो अपने प्रयास से कुछ हो पान कठिन है। परन्तु मन-प्राण अर्पित किए बिना उनकी दया क्यो होगी ? एक बार उन्हें पा लेने पर संसार आदि कुछ बिगाड़ नहीं पाते। संसार में भी वे ही दीख पड़ते हैं। तब भलीभाँति अनुभव होता है, 'तुम्हीं कर्म, धर्म व अधर्म हो, यह मर्म समझ में आ गया है।' वे ही सब कुछ हुए है यह अच्छी तरह देखने में आता है। उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रह जाता, अतएव सारा संकट दूर हो जाता है। खाते, सोते, उठते, बैठते दिन-रात उन्हें पुकारो, उनका चिन्तन करो। एक बार पूरे दिल से ऐसा कर डालो तो समझूँ। उसके बाद देखोगे कि सब सहज हो गया है। स्वास्थ्य ठीक रहे या न रहे, पर उन्हें पुकारने में रुकावट न हो। कहना, 'दुःख जाने और शरीर जाने, पर मन तुम आनन्द में रहो।' यह सब अभ्यास करना पड़ता है। तभी तो होगा।

— ४१ —

खूब भजन किए जाओ। माँ की कृपा से सारी समस्याएँ दूर हो सकती हैं। भजन करना चाहिए। शरीर स्वस्थ रहे या अस्वस्थ, भजन बन्द मत करना। बाद में देखोगे कि समस्त विघ्न दूर हो गए है। कुछ दिन लगे रहकर निरन्तर भजन करो तो सही, शरीर आदि सब ठीक हो जाएगा। मन के शुद्ध होते ही, देह भी नीरोग हो जाता है। केवल भजन ही मन को शुद्ध कर सकता है। अतः भजन करो, भजन करो। निष्काम भजन ही भजन का सार है। उन्हीं से प्रीति, भक्ति, प्रेम आदि सब करना होगा। तभी सभी वस्तुओं से मन अपने आप उठ जाएगा। तब शरीर की इतनी चिन्ता नहीं रहेगी। केवल माँ की चिन्ता ही प्रबल रह जाएगी। और वही होने पर आनन्द भी है।

❀